☐ प्रकाशक ·

देवेन्द्रराज मेहता
सचिव, प्राकृत भारती अकादमी
जयपुर

सुल्तानमल जैन
अध्यक्ष, श्री जैन श्वे० नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ
मेवानगर

☐ प्रथम संस्करण . **सितम्बर १९८७**

☐ मूल्य **१०.०० दस रुपये**

☐ प्राप्ति स्थल ·

१. प्राकृत भारती अकादमी
३८२६, यति श्यामलालजी का उपाश्रय
मोतीसिंह भोमियो का रास्ता,
जयपुर–३०२००३ (राज०)

२ श्री जैन श्वे नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ
पो मेवानगर, स्टेशन बालोतरा
३४४०२५, जि० बाड़मेर (राज०)

☐ मुद्रक

अजन्ता प्रिण्टर्स
घी वालो का रास्ता, जौहरी बाजार,
जयपुर–३०२००३ (राज०)

SĀMĀYIKA DHARMA : EKA PURṆA YOGA
VIJAYAKALĀPŪRṆASŪRI/1987.

प्रकाशकीय

आचार्य प्रवर **विजयकलापूर्णसूरिजी** महाराज लिखित **"सामायिक धर्म : एक पूर्ण योग"** पुस्तक प्राकृत भारती का ४०वा पुष्प **प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर** और **श्री जैन श्वेताम्बर नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ, मेवानगर** के सयुक्त प्रकाशन के रूप मे प्रकाशित करते हुए हमे हार्दिक प्रसन्नता है।

सामायिक जैन पारिभाषिक शब्द है तथा इसका उपयोग व्यापक अर्थों मे होता रहा है। सामान्यत· परिभाषा के अनुसार "आत्मज्ञानी जब विचारो को केन्द्रित कर आत्मस्थ हो जाता है, वही सामायिक है।" जैन आचार व दर्शन मे सर्वदा से सामायिक एक महत्वपूर्ण अगीकरणीय विषय रहा है। समस्त जैन वाड्मय मे इस विषय पर प्रचुर चर्चा उपलब्ध है। फिर भी वर्तमान समय मे इसका मात्र व्यावहारिक रूप ही दृष्टिपथ मे आ रहा है।

श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु ने आवश्यक निर्युक्ति के उपोद्घात निर्युक्ति प्रकरण मे गाथा ७८९ से ८७९ तक मे "सामायिक क्या है ?" चर्चा करते हुए नय दृष्टि से सामायिक पर विचार अभिव्यक्त किये है। उन्होने सामायिक के भेदो पर विचार करते हुए इसके तीन भेद बताये है—सम्यक्त्व सामायिक, श्रुत सामायिक और चारित्र सामायिक। सामायिक किसकी होती है ? इस पर आचार्य का उत्तर है—जिसकी आत्मा सयम, नियम और तप मे रमण करती है, जो सब जीवो के प्रति सम-भाव/मैत्री भाव रखता है, उसी की सच्ची सामायिक है। तदनन्तर आचार्य भद्रबाहु ने "सामायिक के कारण/आचरण, सामायिक कहाँ है ? किसमे है ? किस प्रकार प्राप्त होती है ? श्रुत की दुर्लभता, बोधि सामायिक की दुर्लभता, उसकी प्राप्ति का क्रम और वह कब तक स्थिर रहती है ?" इत्यादि का प्रश्नोत्तरो के माध्यम से पठनीय/मननीय सुन्दरतम समाधान प्रस्तुत किया है।

इसी क्रम को आगे बढाते हुए विजयकलापूर्णसूरिजी ने योग/ध्यान सम्बन्धी प्रचुर ग्रन्थो के आलोक मे सामायिक को एक पूर्णयोग के पद पर प्रतिष्ठापित करने का एव इस विषय की गहराइयो को सरल एव सरस शैली मे उद्घाटित करने का श्लाघनीय प्रयत्न किया है।

पूज्य आचार्य श्रीमद् विजयकलापूर्णसूरिजी महाराज अध्यात्म योगी, परमात्म भक्ति के उत्तम साधक और जैन दर्शन के रहस्यो के ज्ञाता है। इन्होने हमारे अनुरोध पर इस पुस्तक को लिखकर प्राकृत भारती को प्रकाशनार्थ प्रदान की, इसके लिये हम उनके कृतज्ञ है। और, हम आशा करते हैं कि आपकी लेखनी का सहयोग हमे भविष्य मे भी नियमित रूप से प्राप्त होता रहेगा।

श्री रणजीत सिंहजी कूमट, राजस्थान सरकार के शिक्षा सचिव हैं। अपनी व्यस्तता के बीच भी समय निकाल कर इस पुस्तक की भूमिका लिख पाना उनकी सस्कारिता तथा जैन दर्शन के प्रति रुचि का द्योतक है। हम उनके प्रति आभार प्रकट करते है। साथ ही इसके सुन्दर मुद्रण के लिये श्री जितेन्द्र सघी, अजन्ता प्रिण्टर्स, जयपुर के प्रति भी आभार व्यक्त करते है।

सुल्तानमल जैन	**म. विनयसागर**	**देवेन्द्रराज मेहता,**
अध्यक्ष	निदेशक	सचिव
नाकोडा पार्श्वनाथ तीर्थ	प्राकृत भारती अ	प्राकृत भारती अ.
मेवानगर	जयपुर	जयपुर

प्रस्तावना

"सामायिक" शब्द का अर्थ विशाल एव गूढ है, परन्तु यह जन सामान्य की जानकारी मे उतना नही है जितना "योग" शब्द आ गया है। जो सामायिक शब्द से परिचित है वे भी इसके गहन अर्थ से इतने परिचित नही है। अतः सामायिक के व्यापक एव गूढ अर्थ को योग से तुलना कर बताया है कि यह एक "पूर्ण योग" है।

सामायिक साधना की प्रक्रिया भी है और साध्य भी। सामायिक एक विधि भी है और स्थिति भी। सामायिक का अर्थ समता, साम और सम्म तीन मन· स्थितियो से किया है। दुःख व सुख मे समता मे रहना या सन्तुलन बनाये रखना समता कहा जा सकता है। सब जीवो से मैत्री-भाव और स्नेह "साम" कहा जाता है और दर्शन, ज्ञान व चारित्र के तन्मय परिणाम को सम्म सामायिक कहा जा सकता है। उपरोक्त तीनो स्थितियो को जीवन मे लाना या इन तीन स्थितियो मे अपने आप को स्थित करना ही सामायिक है।

"सम" या समता शब्द बहुत व्यापक एव गहन है। समता का अर्थ केवल सन्तुलन (Equlilibrium) से नही वरन् राग-द्वेष रहित अवस्था, मैत्री, समभाव एव ज्ञान-दर्शन चारित्र की एकता इन सब से किया जाता है। जीवन मे "समता" आना जीवन का लक्ष्य प्राप्त करना है। समता की उच्चस्थ श्रेणी उच्चतम सामायिक है, अन्तिम स्थिति है और इसके बाद कुछ करने को शेष नही रहता है।

"योग" शब्द का आज जो व्यापक एव प्रचलित अर्थ है वह तो केवल आसन, प्राणायाम तक सीमित है। दुर्भाग्य से एक आध्यात्मिक शब्द को शरीर की भौतिक क्रियाओ तक ही सीमित कर दिया है। योग शब्द का प्रयोग विभिन्न सन्दर्भो मे अलग-अलग हुआ है। परन्तु, आध्यात्मिक सन्दर्भ मे योग वह साधना है जिससे "ब्रह्म" से साक्षात्कार हो या "मोक्ष" मिले या आत्मा को शुद्धतम स्थिति प्राप्त

हो। चित्तवृत्ति निरोध या मन, वचन, काया के योगों को मोक्ष प्राप्ति मे जोडना आदि सभी अर्थों मे योग आत्मा की उच्चतम स्थिति प्राप्त करने का साधन है।

"सामायिक" शब्द जब "साधना" के रूप मे प्रयुक्त होता है, तो वह एक घडी या ४८ मिनट के लिये एक स्थान पर स्थित हो गीतार्थ, सद्गुरुओ की विनय, भक्ति, उपासना करने से होता है। इसे द्रव्य सामायिक या श्रुत सामायिक भी कहते है। इस प्रक्रिया से ज्ञानार्जन, भक्तिभाव और अनासक्त भाव की प्राप्ति होती है। इसी साधना मे ध्यान व कायोत्सर्ग की विधि से मन का शोधन भी किया जाता है।

ध्यान व कायोत्सर्ग की गहन साधना जैन साधुओ ने अवश्य की, परन्तु बहुत कम साधुओ ने उस विधि को लेखन का रूप दिया या अक्षुण्ण रूप से बनाये रखने का प्रयास किया। कुछ आचार्यो ने यथा हरिभद्रसूरिजी व हेमचन्द्राचार्य ने योग के माध्यम से साधना की गूढ विधिया समझाई है और उनके ग्रन्थो का सार इस पुस्तक मे प्रस्तुत किया गया है। उस काल मे योग शब्द जब काफी प्रचलित हुआ तो जैन वाङ्मय और साधना मे योग से मेल खाता या योग सम्बन्धी जितने भी साधना के सूत्र थे उनको सुव्यवस्थित कर यह प्रस्तुत किया कि जैन साधना मे वह सब कुछ है जो योग साधना के नाम से जाना जाता है। बल्कि, इससे भी अधिक साधन उपलब्ध हैं जिससे आत्मशुद्धि कर मोक्ष की स्थिति प्राप्त की जा सकती है।

प्रस्तुत पुस्तक मे सामायिक और योग के अर्थों को समझाकर, आचार्य हरिभद्रसूरिजी व हेमचन्द्राचार्य जी की पुस्तको का सार दिया है और यह समझाया है कि जैन साधना विधि "पूर्ण योग" है और सामायिक मे योग के सब अनुष्ठान समाहित हैं। योग शब्द का प्रयोग वैदिक साहित्य से पहले जैन साहित्य मे हुआ है।

योग और सामायिक शब्द जब तक "साधना" के अर्थ मे प्रयुक्त होते हैं तब तक दोनो साम्य अर्थ रखते हैं, क्योकि साधना साध्य की प्राप्ति के लिये होती है। दोनो का साध्य मोक्ष-प्राप्ति या

आत्मा को शुद्ध स्थिति प्राप्त करना है। परन्तु, इसके बाद दोनों का साम्य समाप्त हो जाता है। योग केवल साधना है, जबकि सामायिक साध्य भी है। सामायिक की स्थिति मे पहुँचना, समता की उच्चस्थ श्रेणी अर्थात् वीतराग दशा प्राप्त करना ही मोक्ष है।

प्रस्तुत पुस्तक इस बात का ज्ञान देती है कि सामायिक साधना व योग साधना मे कितना मेल है, योग साधना जैन विधि मे कितनी व्यापक है और कितनी विधिया उपलब्ध हैं। परन्तु, एक साधारण पाठक इसको पढकर किसी विधि को पकड़ नही सकता, और न उसे जीवन मे उतार सकता है। इसके लिए किसी गुरु की आवश्यकता बताई गई है। आवश्यकता अब ऐसी पुस्तको की है जो ध्यान-विधि को सरल भाव से समझाएँ और प्रयोग-विधि बताएँ। साधक केवल पढकर तो ध्यान-साधना मे पारगत नही हो सकता। उसे उस मार्ग पर चलना होगा और तब ही वह समाधि प्राप्त कर सकेगा।

आशा है इस पुस्तक के बाद ध्यान-विधि पर व सामायिक की उच्चस्थ स्थिति प्राप्त करने के लिये जन साधारण के लिये पथ प्रदर्शक पुस्तके और प्रकाशन मे आवेगी।

रणजीत सिंह कूमट

सामायिक धर्म : एक 'पूर्ण योग'

जैन दर्शन मे, उसके आगम ग्रन्थो मे, उसकी दैनिक आराधना मे अथवा उसके विशिष्ट अनुष्ठानो मे योग एव ध्यान-साधना दूध मे घी और मक्खन की तरह व्याप्त है। उसकी यथार्थ प्रतीति सर्वज्ञ-कथित 'सामायिक धर्म' का अध्ययन, मनन, परिशीलन एव पालन करने से ही सम्भव है।

जैन शासन के प्रवर्तक श्री तीर्थकर परमात्मा अपने अनुपम जीवन मे सर्वोत्कृष्ट योग-साधना करके लोकालोक-प्रकाशक केवलज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् समस्त जीवो के उत्कृष्ट कल्याणार्थ सर्व प्रथम सामायिक धर्म का उपदेश देते है और उनके उक्त उपदेश को बीज-बुद्धि के निधान श्री गणधर भगवत सूत्र-बद्ध करते हैं, अर्थात् द्वादशागी के रूप मे उसकी रचना करते हैं, जिसे जिनागम भी कहते हैं।

इस द्वादशागी का शुभ प्रारम्भ भी 'सामायिक सूत्र' से किया जाता है। सामायिक समस्त जिनागमो मे व्याप्त समाधि-योग स्वरूप है।

विश्व के समस्त आस्तिक दर्शनो द्वारा प्रदर्शित योग प्रक्रियाओ का अन्तर्भाव सर्वज्ञ कथित इस 'सामायिक' मे हो चुका है और वह किस प्रकार हो चुका है, यह अन्य दार्शनिको द्वारा प्रदर्शित योग की परिभाषा एव उसके तात्पर्यार्थ सहित 'सामायिक' की परिभाषा, तात्पर्यार्थ एवं कार्य-क्षमता का चिन्तन करने से स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है।

सामायिक एक उच्च कोटि का आध्यात्मिक अनुष्ठान है, एक उच्च कोटि की योग-क्रिया है।

'उपनिषदो' मे ब्रह्म से साक्षात्कार कराने वाली क्रिया को 'योग' के रूप मे स्वीकार किया गया है ।

'गीता' मे कर्म करने के कौशल को 'योग' कहा गया है ।

'योग-दर्शन' के मन्तव्य के अनुसार चित्त-वृत्ति का निरोध ही 'योग' है ।

बौद्ध दार्शनिको ने जिससे बोधि-सत्त्व की प्राप्ति होती है उसे 'योग' बताया है ।

जिनागमो मे आत्मा को सर्वथा विशुद्ध करने वाली, मुक्ति के साथ जोड़ने वाली क्रिया को, आचार को योग माना है; ज्ञानादि रत्नत्रयी को 'योग' कहा है ।

इस प्रकार समस्त आस्तिक दार्शनिको ने आत्मा की उत्तरोत्तर शुद्ध, शुद्धतर एव शुद्धतम अवस्था को प्रकट करने वाले साधन को 'योग' के रूप मे स्वीकार किया है ।

योग साधन है, मोक्ष साध्य है । जिस साधन से मोक्ष रूपी साध्य सिद्ध किया जा सके, वह सर्वोत्तम योग-स्वरूप है ।

विभिन्न दार्शनिको द्वारा मान्य एवं स्वीकृत योग के लक्ष्यार्थ के विषय मे चिन्तन-मनन करने से स्पष्ट होता है कि योग-साधना एक विशिष्ट क्रिया/मार्ग है और उसमे अनेक प्रकार के आचार, अनुष्ठान, ध्यान, तप, जप आदि समाविष्ट हैं, एव उन सबका एक मात्र लक्ष्य है—पूर्ण आत्म-शुद्धि ।

योग की उपरोक्त समस्त व्याख्याओ एव उसके लक्ष्यार्थ का सामायिक मे पूर्णत: समावेश है ।

सामायिक ब्रह्म-स्वरूप आत्मा से हमारा साक्षात्कार कराती है ।

सामायिक कुशल कर्म, कुशल अनुष्ठान स्वरूप है ।

सामायिक चित्त की समस्त क्लिष्ट वृत्तियों का निरोध करती है।

सामायिक आत्म-तत्त्व की उचित प्रतीति स्वरूप 'बोधि' को प्रकट करने वाली है।

सामायिक समता प्राप्त कराने वाली है।

सामायिक मोक्ष-प्रद धर्म, व्यापार है।

सामायिक सम्यग्ज्ञान, दर्शन एव चारित्र रूपी रत्नत्रयी की प्राप्ति कराने वाली है।

अत. 'सामायिक' एव 'योग' वास्तव मे एक ही है, अभिन्न है।

मत्र-योग, लय-योग, राज-योग और हठ-योग ये चारो प्रकार के योग भी सामायिक मे समाविष्ट है।

सामायिक परम मत्र-योग है। 'मननात् त्रायते इति मन्त्रः' अर्थात् मनन करने से जो रक्षा करता है, उसका नाम मत्र है। सामायिक के सेवन से मन एव आत्मा की राग-द्वेष आदि दुर्भावो से उत्तम प्रकार से सुरक्षा होती है। अत. वह परम मत्र योग-स्वरूप है।

सामायिक लय-योग है। सामायिक मे समता की साधना से आत्मा सरलता पूर्वक परमात्मा मे लीन हो जाती है। अत. यह उत्तम लय योग स्वरूप है।

सामायिक राजयोग है, क्योकि सामायिक का उद्देश्य चित्त की क्लेशपूर्ण अवस्था को नष्ट करके प्रशम भाव रूपी समाधि प्राप्त करना है।

'तपः स्वाध्यायेश्वरः प्रणिधानानि क्रिया योगः।'

महर्षि पतञ्जलि ने योग के क्रियात्मक स्वरूप को उपर्युक्त तीन विभागो मे विभाजित किया है। वे विभाग है—(१) तप, (२) स्वाध्याय और (३) ईश्वर प्रणिधान।

सामायिक मे स्वाध्याय की प्रधानता है। साथ ही साथ ईश्वर प्रणिधान भी उसमे गुम्फित है।

जो समय सामायिक मे व्यतीत होता है उसमे बाह्य एव अभ्यन्तर दोनो प्रकार का तप होता है, तथा उक्त तप समत्व की साधनार्थ होने से समस्त प्रकार के सासारिक फलो की आशसा से रहित होता है। ईश्वर प्रणिधान का तात्पर्य फलेच्छा का त्याग है जो सामायिक मे अनायास ही सन्निहित होता है।

इस प्रकार सामायिक योग है, राजयोग है, राजयोग का विशिष्ट क्रियात्मक स्वरूप है।

सामायिक मे कायोत्सर्ग, एक आसन पर खडे रहकर अथवा वैठकर अमुक श्वासोच्छ्वास प्रमाण की काल-मर्यादा पूर्वक परमात्म-स्मरण अथवा आत्म-चिन्तन करने से उसमे हठ किये बिना अनायास ही आसन एव प्राणायाम आदि प्रक्रियाएँ हो जाती हैं।

अब सामायिक क्या है? उसके अधिकारी कौन है? उसका अभ्यास किस प्रकार किया जा सकता है? और उसका फल क्या होता है? आदि प्रश्नो पर क्रमश. विचार करें।

सामायिक का स्वरूप

सामायिक अर्थात् समता भाव की साधना।

'समताभाव-स्वरूप सामायिक आकाश की तरह समस्त गुणो का आधार है।'

सामायिक—समता विहीन व्यक्ति परमार्थ से किसी भी गुण का अपने जीवन मे विकास नही कर सकता, आत्म-लक्षी साधना मे सिद्धि प्राप्त नही कर सकता।

श्रुत, सम्यक्त्व एव विरति स्वरूप तीन प्रकार की सामायिको मे समस्त गुणो का अन्तर्भाव होता है; क्योकि सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन एव सम्यक् चारित्र से वढकर अन्य सद्‌गुण इस ससार मे नही है,

अर्थात् इस रत्नत्रयी मे समस्त गुणों का समावेश हो जाता है। इस कारण ही तो रत्नत्रयो स्वरूप सामायिक मे समस्त गुण, समस्त धर्मानुष्ठान एव समस्त योग समाविष्ट ही हैं। इस रत्नत्रयी की उज्ज्वल आराधना ने अनन्त आत्माओ को शाश्वत सुख प्रदान किया है और करेगी।

सामायिक क्या है ?

जैन दर्शन स्याद्वादमय है। उसमे प्रत्येक पदार्थ का निरूपण स्याद्वाद शैली से ही किया जाता है।

स्याद्वाद एक ही वस्तु मे निहित विभिन्न धर्मों का गौण एव प्रधान भाव से निरूपण करके वस्तु-स्वरूप का पूर्णरूपेण ज्ञान कराता है।

सामायिक-विषयक प्रस्तुत चिन्तन भी स्याद्वाद अर्थात् अनेकान्त दृष्टि से किया जाता है।

जिस सामायिक का जैन-शासन मे अग्रगण्य स्थान एव सम्मान है और जो अद्वितीय है, वह सामायिक क्या है ? इस प्रकार का प्रश्न किसी भी जिज्ञासु के मन मे उठना स्वाभाविक है।

सामायिक क्या जीव है, जड है, द्रव्य है अथवा गुण है ?

इस प्रश्न के समाधान मे शास्त्रकार महर्षियो का कथन है कि—'आया खलु सामाइय' अर्थात् आत्मा ही सामायिक है, जड़ कदापि सामायिक हो ही नही सकती, द्रव्य की दृष्टि से सोचे तो सामायिक द्रव्य है और पर्याय-दृष्टि से सामायिक गुण है।

यहाँ 'द्रव्य' शब्द आत्मा का ही वाचक है। 'गुण' से आत्मा के ज्ञान आदि गुणो का ही ग्रहण होता है। इस प्रकार सामायिक जीव है, परन्तु जड नही है, यह सिद्ध हो जाता है।

'आत्मा ही सामायिक है।' यह बात आत्मा के साथ सामायिक का अभेद सम्बन्ध स्पष्ट करती है और इससे आत्मा की तरह सामायिक की शाश्वतता सिद्ध होती है।

सामायिक गुण है। गुण कदापि गुणवान से विलग नही रह सकता। अत सामायिक आत्मा का ही गुण है।

उपर्युक्त दोनो दृष्टियो से सामायिक आत्म-स्वरूप एव गुण-स्वरूप होने से भिन्न होते हुए भी वस्तुत तो एक ही है और वह आत्मा ही है।

आत्मा ही सामायिक है, तो क्या विश्व की समस्त आत्मा सामायिक कहलायेगी ?

नही, सासारिक अवस्था मे रहने वाली आत्माएँ ज्ञानावरणीय आदि कर्मों से आवृत्त होती हैं, तथा अज्ञान एव राग-द्वेष आदि दोषो से ग्रस्त होती हैं, जिससे वे विभाव दशा मे मग्न रहती है। इस कारण ही वे अज्ञानी, रागी अथवा द्वेषी कही जाती है।

परन्तु, जो आत्माए पाप-व्यापार के परिहार एव अहिसा आदि धर्म-व्यापार के सेवन से राग आदि दोषो को निर्बल बनाकर विभाव से विरमण करती है, तब उनमे क्रमशः ज्ञान, दर्शन चारित्र आदि गुण प्रकट होते हैं, उनमे समता भाव उत्पन्न होता है और इस कारण उन आत्माओ को 'सामायिक' कहा जाता है।

सामायिक के प्रकार

'आत्मा ही सामायिक है।' यह बात निश्चय नय की अपेक्षा से है, जिसका तात्पर्य है—आत्मा की स्वाभाविक स्थिति को प्राप्त होना, उसमे तन्मय हो जाना, तद्रूप हो जाना, पर-भाव के अश से सर्वथा रहित होकर आत्म-स्वभाव मे रमण करना।

व्यवहार नय की अपेक्षा से आत्मा की स्वाभाविक स्थिति की ओर ले जाने वाले समस्त प्रकार के साधन, क्रियाएँ अथवा अनुष्ठान सामायिक है।

इस व्यवहार-सामायिक का चिन्तन अवस्था भेद के कारण अनेक प्रकार से हो सकता है। शास्त्रो मे उसके मुख्यत. तीन प्रकार बताये गये है :—

१. श्रुत सामायिक–गीतार्थ सद्गुरुओ से विनय एव सम्मानपूर्वक श्रुत ज्ञान की शुद्ध, सात्विक उपासना करना।

२. सम्यक्त्व सामायिक—सर्वज्ञ-कथित जीव आदि तत्त्वो के प्रति, सुदेव, सुगुरु और सुधर्म के प्रति अचल एव अखण्ड श्रद्धा रखना।

३. विरति (चारित्र) सामायिक—विरति सामायिक के मुख्य दो प्रकार है :—

(१) देश विरति सामायिक—सावद्य पाप-व्यापारो का देश अर्थात् अश से त्याग। यह सामायिक अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत (कुल बारह व्रत) की अपेक्षा से अनेक प्रकार की होती है।

(२) सर्व विरति सामायिक—समस्त सावद्य (पाप) व्यापारो का सर्वथा परित्याग। इसके भी तीन और पाँच भेद किये गये हैं जिन्हे ग्रन्थान्तर से ज्ञात कर ले।

सामायिक के जिनागमो मे अन्य तीन प्रकार भी बताये गये हैं:—

१ साम २. सम और ३ सम्म।

१. साम सामायिक—यह सामायिक मधुर परिणाम स्वरूप है। इस सामायिक मे समस्त जीवो के प्रति आत्म-तुल्य-वृत्ति स्वरूप स्नेह-परिणाम, मैत्री भावना होती है। इसे सम्यग्-दर्शन अथवा सम्यक्त्व सामायिक भी कहते है। जीव की शत्रु-मित्र अवस्था में समता रखने से 'मधुर-परिणाम' उत्पन्न होता है।

२. सम सामायिक—यह सामायिक 'तुल्य-परिणाम' स्वरूप होती है। हर्ष-शोक के सयोग मे, सुख-दु ख अथवा मान-अपमान के प्रसग मे तुला अर्थात् तराजू की तरह इस सामायिक मे दोनों ओर तुल्य-वृत्ति, मध्यस्थ भाव होता है।

श्रुत ज्ञान के अभ्यास द्वारा ही तुल्य परिणाम उत्पन्न हो सकता है। अतः इसे 'श्रुत सामायिक' अथवा 'सम्यग् ज्ञान' भी कहते है।

कर्म से जीव की भिन्नता का विचार अथवा कर्म की दृष्टि से शुभाशुभ कर्म की समानता का विचार करने से 'तुल्य परिणाम' प्रकट होता है ।

३. सम्म सामायिक—यह सामयिक 'तन्मय परिणाम' स्वरूप है । यहाँ सम्यग्-दर्शन, ज्ञान एव चारित्र की एकता-एकरूपता स्वरूप परिणाम होता है, जिससे इसे 'चारित्र सामायिक' भी कहते है ।

मोक्ष के उपाय स्वरूप ज्ञान, क्रिया अथवा रत्नत्रयी मे समान भाव रखने से 'तन्मय परिणाम' प्रकट होता है ।

उपर्युक्त तीनो प्रकार के परिणामो को आत्मा मे प्रकट करने का नाम ही सामायिक है ।

प्रथम तीन प्रकार 'श्रुत सामायिक' आदि और दूसरे तीन प्रकार 'साम' आदि समानार्थी हैं । 'सामायिक' पद का रहस्य विचारने से यह बात स्पष्टतया समझी जा सकती है ।

सामायिक पद का रहस्य :

सामायिक पद के विविध अर्थ बताकर शास्त्रो मे 'सामायिक' का गूढ रहस्य स्पष्ट किया गया है, जिस पर हम यहाँ सक्षिप्त रूप से विचार करेंगे ।

'समाय' एव 'सामाय' पद के साथ 'इकण्' प्रत्यय लगने से 'सामायिक' शब्द बना है ।

'सम' एव 'साम' शब्दो के अनेक अर्थ हो सकते है ।

(१) सम—राग-द्वेष रहित अवस्था ।

(२) सम—सम्यक्त्व, ज्ञान एव चारित्र; मध्यस्थता, समता, प्रशम आदि ।

(३) सम—सर्वत्र तुल्य व्यवहार ।

'साम'—(१) समस्त जीवो के प्रति मैत्री भाव, (२) समस्त जीवो को आत्म-तुल्य मानकर पर-पीडा का परिहार, (३) शान्ति, नम्रता ।

आय—प्राप्ति अथवा लाभ।

जिसके द्वारा अथवा जिसमे सम एव साम की प्राप्ति होती है वह सामायिक कहलाती है।

'सामायिक' शब्द की अनेक प्रकार से व्युत्पत्ति होने से उसमे विविध अर्थों का समावेश है। सक्षेप मे हम कुछ अर्थ देखे।

सामायिक अर्थात् राग-द्वेष रहित अवस्था।

सामायिक अर्थात् ज्ञान, दर्शन एव चारित्र का पालन।

सामायिक अर्थात् सर्वत्र तुल्य व्यवहार।

सामायिक अर्थात् समस्त जीवो के प्रति परम मैत्री-भाव।

सामायिक अर्थात् समता—सम भावना की प्राप्ति।

निरुक्त विधि से सामायिक शब्द की व्युत्पत्ति करने से सामायिक का यह अर्थ भी होता है कि—साम, सम एव सम्म इन तीनो को इक अर्थात् आत्मा मे प्रविष्ट कराना 'सामायिक' है।

आत्मा के शुद्ध स्वरूप मे स्थिति सामायिक शब्द का फलितार्थ है।

तीन प्रकार की सामायिक का विशेष स्वरूप :

१. साम—स्व आत्मा की तरह पर को दु ख नही देना।

२ सम—राग-द्वेष-जनक प्रसगो मे भी मध्यस्थ रहना अर्थात् आत्मा का सर्वत्र तुल्य स्वरूप मे व्यवहार।

३. सम्म—सम्यग् ज्ञान, दर्शन, चारित्र का परस्पर योजन, एकरूपता।

ये तीनों आत्मा के अतीन्द्रिय परिणाम हैं। उनको स्पष्टतया समझने के लिये उनकी द्रव्य के साथ तुलना की जाती है।

साम—यह मधुर परिणाम स्वरूप है, जैसे—शक्कर आदि द्रव्य । और, वह सम्यक्त्व सामायिक का सूचक है ।

सम—यह स्थिर परिणाम स्वरूप है, जैसे तुला (तराजू) । और, वह श्रुत-सामायिक का सूचक है ।

सम्म—यह तन्मय परिणाम स्वरूप है, जैसे क्षीर-शक्कर का मिलन (मिश्रण) और वह चारित्र का सूचक है ।

इन तीनो साम, सम एव सम्म परिणामो को (सूत के धागे मे मोती पिरोने की तरह) आत्मा मे पिरोने, प्रकट करने का नाम सामायिक है ।

समता परिणाम स्वरूप सामायिक अतीन्द्रिय होने से केवल अनुभव-गम्य है । इसकी प्राप्ति से आत्मा को जो आनन्द, आह्लाद स्पर्श करता है, उसका तारतम्य लेकर उसके अनेक भेद किये जा सकते हैं ।

१ साम सामायिक—

साम अर्थात् मधुर परिणाम स्वरूप सामायिक, साम अर्थात् मैत्री भाव; समस्त जीवो के प्रति मैत्री भाव प्रकट होने से अपने स्वय के सुख-दु ख की तरह अन्य समस्त जीवो के सुख-दु ख का विचार उत्पन्न होता है, जिससे अपने दु ख का निवारण करने के साथ अन्य समस्त जीवो के दुःख-निवारण का भी प्रयत्न होता है, तथा दूसरो के अपराध क्षमा करने के साथ अपने स्वय के अपराधो के लिये क्षमा याचना करने के लिये मन प्रेरित होता है ।

जीव मात्र को दु ख अप्रिय है, सुख प्रिय है, अत किसी भी जीव को दु ख, वेदना हो ऐसी कोई भी प्रवृत्ति मुझे कदापि न करनी और न करानी चाहिये । मैत्री एव करुणा-पूर्ण इस परिणाम से चित्त मे जब भावातिरेक होता है, तब चित्त मे अपूर्व शान्ति, शीतलता एव मधुरता का अनुभव होता है । यह मधुरता शक्कर की मधुरता की अपेक्षा भी अधिक होती है ।

इस अवस्था तक पहुँचे हुए जीवो मे परमात्मा एव गुरु के प्रति परम प्रीति एव भक्ति की भावना उत्पन्न होती है, ससार से सहज उद्वेग एव मोक्ष का तीव्र सवेग (अभिलाषा) उत्पन्न होता है।

'योग-दृष्टि समुच्चय' मे प्रदर्शित मित्रादि पाँच दृष्टियो मे प्रकट होने वाले समस्त गुणो, योग के बीजो का भी इस अवस्था मे आविर्भाव होता है।

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, इच्छा एव प्रवृत्ति योग, अध्यात्म एव भावना योग तथा प्रीति, भक्ति, अनुष्ठान आदि का अभ्यास किया जाये तो ही उपर्युक्त 'मधुर परिणाम' स्वरूप सामायिक प्रकट होती है। अथवा प्रकट हुई सामायिक स्थायी रहकर उत्तरोत्तर विकसित होती रहती है।

शास्त्रो मे कहा भी है कि 'सामायिक' द्वादशागी का सक्षिप्त रूप है और 'षड् आवश्यको' का मूल है। शेष आवश्यक सामायिक के ही अग है अर्थात् एक सामायिक मे शेष आवश्यको के अनुष्ठान भी गौण रूप से समाविष्ट होते हैं। 'आचाराग सूत्र' मे सामायिक का स्वरूप आचार आदि पाँच प्रकारो के द्वारा स्पष्ट किया गया है।

दया-प्रधान जिन-शासन सर्व प्रथम समस्त जीवो को 'अभय' प्रदान करने की शिक्षा देता है।

'शस्त्र परिज्ञा अध्ययन मे कहा भी है कि 'समस्त जीवो को आत्म-तुल्य मानकर उनकी भी रक्षा कर। जिस प्रकार तू अपनी आत्मा को दु ख से मुक्त करके सुखी करना चाहता है, उसी प्रकार से तू अन्य समस्त जीवो को भी दु ख से मुक्त कर। जिस प्रकार मृत्यु का भय तुझे सताता है, उसी प्रकार से यह समस्त जीवो को भी सताता है। अतः किसी भी जीव की हिसा हो अथवा उसे पीडा हो ऐसी प्रवृत्ति ही तू मत कर।'

अन्य जीवो को भय-मुक्त करने से ही 'अभय' प्राप्त हो सकता है।

जन्म-मरण के भय से मुक्त होने के इच्छुक व्यक्ति को अन्य जीवो के जन्म-मरण मे निमित्त होना—सर्वथा त्यागना ही पडेगा और वह अहिंसा के पूर्ण पालन से ही सम्भव है। इसके अतिरिक्त सम्भव ही नही है।

अहिंसा, अभय, अमारि, मैत्री, करुणा, क्षमा ये सब अहिंसा के पर्याय हैं।

समस्त जीवो को अभय बनाकर, अभय बनने के लिये ही अहिंसा को प्रधानता दी गई है।

अहिंसा के पालन से चित्त निर्मल होता है। निर्मल चित्त मे आत्म-ज्ञान प्रकट होता है और ऐसे आत्म-ज्ञान के द्वारा सम-भाव स्वरूप की अनुभूति होती है।

२ सम सामायिक—

सम-तुल्य परिणाम स्वरूप सामायिक।

कमठे धरणेन्द्रे च स्वोचितं कर्म कुर्वति।
प्रभुस्तुल्यमनोवृत्तिः, पार्श्वनाथः श्रियेऽस्तु वः॥

उपर्युक्त गाथा (श्लोक) का अर्थ एव भावार्थ सम्यक् प्रकार से समझने पर तुल्य परिणाम स्वरूप सामायिक के समग्र स्वरूप का स्पष्ट बोध होता है, तथा वह कितना अकल्पनीय उपकारी है यह भी ज्ञात होता है।

एक व्यक्ति के प्रति राग और दूसरे व्यक्ति के प्रति द्वेष उत्पन्न हो ऐसी परिस्थिति मे भी चित्त को तुलावत् मध्यस्थ रखना, शत्रु-मित्र, तृण-मणि अथवा सुख-दु.ख के प्रति भी सम-भाव, सम-दृष्टि रखने का नाम ही तुल्य परिणाम स्वरूप सामायिक है।

सानुकूलता के प्रति होने वाली राग-वृत्ति एव प्रतिकूलता के प्रति होने वाली द्वेष वृत्ति मुख्यत. अज्ञान के कारण होती है। श्रुत-ज्ञान के, सम्यग्ज्ञान के सतत अभ्यास से विवेक जागृत होने पर

पुद्गल पदार्थों मे होने वाली ईष्टानिष्ट की कल्पना दूर हो जाती है और चित्त तुल्य वृत्ति को धारण करता है। उसके द्वारा शुभ ध्यान मे स्थिरता आ जाती है और एकाग्रता आने पर निश्चल समता प्रकट होती है।

इस प्रकार श्रुत ज्ञान के सतत अभ्यास से ध्यान की वृद्धि और ध्यान से समता की वृद्धि होती है। इस समता भाव को आत्मा मे प्रविष्ट कराने का नाम है सामायिक। यहाँ वचन अनुष्ठान और शास्त्र-योग की प्रधानता होती है।

कहा भी है कि शास्त्रानुसार अनुष्ठान करने से श्री वीतराग परमात्मा की आज्ञा-पालन के रूप मे परम भक्ति होती है और उसके प्रभाव से समस्त योगो की सिद्धि होती है। समरस भाव की प्राप्ति होती है उसे 'सामायिक' भी कहते है, वही समता-योग है। चित्त की सुलीन अवस्था एव मनोगुप्ति का दूसरा प्रकार (समता मे सुप्रतिष्ठितता) भी इस सामायिक वाले व्यक्ति मे आ सकता है।

'योगसार' मे भी कहा है कि उत्तम योगियो को समस्त प्रकार की मानसिक, वाचिक अथवा कायिक प्रवृत्तियो मे मन, वचन एव काया से साम्य रखना चाहिये; क्योकि समस्त शास्त्रो के अध्ययन एव श्रमण-जीवन के समस्त सद् अनुष्ठानो आदि का विधान सम-भाव प्राप्त करने के लिये ही किया गया है।

जिस प्रकार चन्दन आदि के वृक्षो को काटा जाये तो वे क्रोधित नही होते और अश्वो आदि का आभूषणो से शृंगार किया जाये तो वे प्रसन्न नही होते, उसी प्रकार से सुमुनि भी सुख-दुःख के प्रसगो पर राग-द्वेष नही रखते, तब समता' प्रकट होती है।

मैत्री आदि भावना मे मग्न मुनि स्व-आत्म-सत्ता को समस्त जीवो से अभिन्न जानकर परम शान्त रस मे लीन रहता है, जिससे उसमे कदापि क्लेश उत्पन्न नही होता; अर्थात् समस्त आत्माओ के साथ चेतनता से समानता की भावना युक्त मुनि उन्हे अपनो स्वय की आत्मा के समान मानता है। वह दूसरो के सुख-दुःख को अपना

सुख-दुःख समझ कर किसी भी जीव को तनिक भी पीडा हो ऐसे विचार, वाणी एव व्यवहार से दूर रहता है। इतना ही नही, वह दूसरे को भी वैसा कार्य करने के लिये प्रेरित नही करता और यदि कोई व्यक्ति वैसा करता हो तो उसका अनुमोदन भी नही करता।

इस प्रकार समस्त जीवो के साथ आत्मवत् प्रवर्त्तन को 'सम' कहते है। ऐसी भावना को आत्मा मे प्रविष्ट कराने—प्रकट कराने को सामायिक कहते हैं।

इस सामायिक का धारक मुनि धन-धान्य आदि अचेतन पदार्थों के प्रति भी उदासीन होता है और समस्त नयो के प्रति भी वह मध्यस्थ होता है।

३. सम्म सामायिक :—

सम्यक् परिणाम स्वरूप इस सामायिक मे सम्यक्त्व, ज्ञान एव चारित्र का परस्पर मिलाप होता है, मिलन होता है। जिस प्रकार दूध मे शक्कर मिल जाती है, उसी प्रकार से आत्मा मे रत्नत्रयी के परस्पर एकीकरण हो जाने को 'सम्म सामायिक' कहते है।

उपर्युक्त साम एव सम परिणाम स्वरूप सामायिक के निरन्तर अभ्यास से ही ऐसी स्वभाव-तन्मयता प्रकट होती है, जिसे चारित्र, समाधि अथवा प्रशान्तवाहिता आदि नामो से सम्बोधित किया जा सकता है।

इस सामायिक मे समता 'जीवन' बनता है, अर्थात् चन्दन मे सुगन्ध की तरह समता आत्मसात् हो जाती है।

कहा भी है कि जिस मुनि को आत्मा के शुद्ध स्वरूप का दर्शन एव विशेष ज्ञान हुआ हो, उसे ही आत्मिक आनन्द की अनुभूति होती है और उसे ही 'सम्म सामायिक' होती है।

योग की सातवी और आठवी दृष्टि मे प्राप्त होने वाले समस्त गुण इस सामायिक की भूमिका को अधिक स्पष्ट रूप से समझने मे सहायक होते है।

ध्यान-प्रीति, तत्त्व-प्रतिपत्ति, शमयुक्तता, समाधि-निष्ठता, असग अनुष्ठान, आसगादि दोषो का अभाव, चन्दन-गध, सदेश सात्मीकृत प्रवृत्ति, निरतिचारता आदि सद्गुण इस सामायिक की कक्षा मे स्थित साधक को अनिवार्य रूप से वरण किये हुए होते है।

ज्ञान-सुधा के सागर तुल्य परब्रह्म—शुद्ध ज्योति-स्वरूप आत्म-स्वभाव मे लीन मुनि को अन्य समस्त रूप-रस आदि पौद्गलिक विषयो की प्रवृत्ति विष के समान भयानक और अनर्थ-कारक प्रतीत होती है।

अन्तरग सुख का रसास्वादन करने पर बाह्य सुख-समृद्धि, सिद्धि एव प्रसिद्धि की समस्त वृत्तियो–प्रवृत्तियो के प्रति उदासीनता हो जाती है।

विश्व के समस्त चराचर पदार्थों को स्याद्वाद दृष्टि से अव-लोकन करने वाले, आत्म स्वभाव मे मग्न मुनि को किसी पदार्थ का कर्तृत्व नही होता, परन्तु केवल साक्षी-भावना होती है; अर्थात् वह तटस्थता से समस्त तत्त्वो का ज्ञाता होता है, परन्तु कर्त्ता होने का अभिमान नही रखता। 'विश्व का प्रत्येक द्रव्य स्व-स्व परिणाम का ही कर्त्ता है, परन्तु पर-परिणाम का कोई कर्त्ता नही है।' यह भावना रखकर समस्त भावो का कर्तृत्व हटाकर साक्षी-भाव प्रकट करने का अभ्यास किया जा सकता है।

सम्म सामायिक युक्त मुनि के दीक्षा पर्यायो मे ज्यो-ज्यो वृद्धि होती जाती है, त्यो-त्यो उसके चित्त-सुख (तेजोलेश्या) की वृद्धि भी होती जाती है। एक वर्ष के दीक्षा पर्याय वाले मुनि का सुख (आत्मिक सुख–समता सुख) अनुत्तर-वासी देवो के दिव्य सुख से भी उच्च कोटि का होता है, विशिष्ट कोटि का होता है।

स्वयभू-रमण समुद्र की स्पर्द्धा करने वाले एव वर्द्धमान सी समता के महासागर मे निमज्जित मुनि की तुलना करने जैसा कोई भी पदार्थ इस विश्व मे नही है। ऐसा निरुपम है यह समता सुख! और ऐसा अनुपम है इस समता-रस-लीन मुनि का जीवन!

इस सामायिक मे 'सामर्थ्य योग' एव असंग अनुष्ठान की प्रधानता होती है।

मोक्ष के साधन के रूप मे समान सामर्थ्य रखने वाले सम्यग्-दर्शन, ज्ञान और चारित्र का लाभ 'सामायिक' है। साम, सम एव सम्म परिणाम स्वरूप सामायिक मे क्रमानुसार सम्यग्-दर्शन, सम्यग्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र स्वरूप रत्नत्रयी समाविष्ट है। अतः 'समग्र मोक्ष-मार्ग सामायिक स्वरूप है।' यह बात सिद्ध हो जाती है।

सामायिक का फल

मन, वचन और काया की स्थिरता एव शुद्धता से किये जाने वाले तप, नियम एव सयम की आराधना से आत्माभिमुख कर्म का प्रवाह रुक जाता है, पूर्व-कृत कर्मों की निर्जरा हो जाती है और क्रमशः परम पद प्राप्त होता है।

सम्पूर्ण सामायिक (सर्व विरति) स्वीकार करने मे असमर्थ श्रावकगण भी दो घडी (४८ मिनट) की सामायिक के द्वारा अशुभ योगो से निवृत्त होकर अपूर्व कर्म-निर्जरा कर सकते हैं। सामायिक योग मे स्थित श्रावक भी उतने समय के लिये साधु माना जाता है।

सामायिक करना अर्थात् मध्यस्थ भाव मे रहना—राग अथवा द्वेष के मध्य रहना, अर्थात् राग अथवा द्वेष किसी का भी आत्मा को स्पर्श नही होने देना, परभाव से अलग हटकर स्वभाव मे स्थिर होना।

विशिष्ट कोटि की आत्मा-रति (विरति) प्राप्त करने की एक अद्वितीय दिव्य कला का ही नाम सामायिक है।

सप्त धातु, दस प्राणो एव साढे तीन करोड रोमों मे समता प्रतिष्ठित होने पर श्री जिनेश्वर परमात्मा की सामायिक का अमृतानुभव होता है।

मेरु पर्वत चलायमान हो अथवा भूकम्प आये तब भी सामायिक मे स्थित मुनि निष्कम्प रहता है ।

इस प्रकार सामायिक जिन-शासन का, जिनागमो का मूल है; द्वादशागी का रहस्य है । भक्ति-योग, ज्ञान-योग, कर्म योग, चारित्र-योग, ध्यान-योग, अष्टाग-योग तथा समापत्ति, समाधि एव राजयोग आदि योगो का उसमे समावेश है; अत सामायिक योगाधिराज है— यह कहने मे भी कोई अतिशयोक्ति नही है ।

पूज्य हरिभद्रसूरिजी महाराज के योग-ग्रन्थों में सामायिक :

जैन आगम ग्रन्थो के गहन अध्ययनशील एव उनके प्रति अनन्य आदर, श्रद्धा एव समर्पण भावना रखने वाले महान् योगद्रष्टा श्री हरिभद्रसूरिजी महाराज द्वारा आगम ग्रन्थो मे निरूपित एव सचित ध्यान तथा योग-साधना के मर्म को अपनी स्याद्वाद-मण्डित विशिष्ट प्रज्ञा-प्रतिभा के द्वारा सरल किन्तु ठोस शब्द-देह प्रदान कर उसके अनुसधान मे योग-शतक, योग-बिन्दु, योग-दृष्टि-समुच्चय और योग-विंशिका आदि मनन-योग्य ग्रन्थो की अद्भुत रचना की गई है, तथा उन्होने अन्य दर्शनो के प्रामाणिक योग ग्रन्थो एव उनकी विशिष्ट प्रक्रियाओ के साथ उसका सुन्दर समन्वय भी किया है ।

आपने अपने योगशतक मे जैन-आगम शैली का अनुकरण करके योग-मार्ग का सुन्दर प्रतिपादन किया है । उक्त ग्रन्थ मे मगला-चरण की प्रथम गाथा मे ही आपने योगियो के नाथ एव श्रेष्ठ योग के दर्शक श्री महावीर परमात्मा को नमस्कार करके 'जोगज्झयणाणु-सरिण' अर्थात् 'योग-अध्ययन' का अनुकरण करके मैं योग का सक्षिप्त वर्णन करूंगा, यह कहा है ।

वह योग-अध्ययन कौनसा ? इस बात को स्पष्ट करते हुए उन्होने स्वय कहा है कि 'योग-अध्ययन' जैन प्रवचन मे अत्यन्त विख्यात है ।

यह 'योग-अध्ययन' अर्थात् 'सामायिक अध्ययन' होगा, यह अनुमान लगाया जा सकता है, क्योकि उक्त जैन प्रवचन मे अत्यन्त प्रसिद्ध छ आवश्यको मे सामायिक प्रथम आवश्यक है। शेष पाँचो आवश्यक उसके साधन है, सामायिक साध्य है, जिसकी पूर्ण योग-मयता के स्वरूप का अपनने विचार किया है।

इस 'सामायिक आवश्यक' की विशदता एव विशालता का जिसमे विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया गया है, उस 'आवश्यक सूत्र निर्युक्ति' पर टीका की रचना करके श्री हरिभद्रसूरिजी महाराज ने इन सामायिक आदि आवश्यको के गहन मर्म को प्रकाशित किया है।

ध्यान एवं योग-साधना

इस आवश्यक-सूत्र के सामायिक अध्ययन को केन्द्र मे रखकर उन्होने 'योग-शतक' मे जैन-दर्शन की दृष्टि से योग क्या है ? इसका विशद निरूपण एव विवेचन किया है।

निश्चय एव व्यवहार से योग के स्वरूप का दर्शन कराते हुए आप श्री ने बताया है कि सम्यग्-दर्शन, ज्ञान एव चारित्र तीनो का आत्मा के साथ सम्बन्ध होना निश्चय योग है। और, सम्यग् ज्ञान आदि के कारण, गुरु-विनय, धर्म-श्रवण, शास्त्र-विहित कार्यों का विधिपूर्वक यथाशक्ति पालन एव निषिद्ध कार्यो का यथाशक्ति त्याग आदि अनुष्ठान व्यवहार से योग है।

इस व्यवहार योग के नित्य, नियमित सेवन से योग्य समय में उसकी वृद्धि होकर ऐसे सम्यग् ज्ञानादि स्वरूप निश्चय योग की अवश्य सिद्धि होती है।

सम्यग् ज्ञानादि गुणो की पूर्णता मोक्ष है, परन्तु उन गुणो की सिद्धि स्वत नही होती; उसके लिये उस प्रकार के आत्म-ज्ञानी गुरु का विनय और उनके द्वारा प्रदर्शित मार्ग का यथार्थ अनुकरण विशेषतः आश्यवक है।

इस प्रकार यहाँ सम्यग् ज्ञानादि गुणो के योजन एव उसके लिये उपयोगी जीवन-चर्या तथा अनुष्ठानो को 'योग' कहा है।

मोक्ष-मार्ग की आराधना मे निश्चय योग एव व्यवहार योग दोनो का यथार्थ सम्मान आवश्यक है। निश्चय योग साध्य है और व्यवहार योग उस साध्य को सिद्ध करने का प्रशस्त मार्ग है।

साधक को अपने शुद्ध स्वरूप की ओर दृष्टि रखकर शास्त्रोक्त व्यवहार-मार्ग का अनुकरण करना है।

'योग-मार्ग' का अधिकारी कौन है? उस विषय मे स्पष्टीकरण करते हुए पूज्य श्री हरिभद्रसूरिजी महाराज ने कहा है—

(१) जो जीव तीव्र सक्लिष्ट भावना से पाप न करे, भयानक दु खपूर्ण ससार का सम्मान न करे, उसमे लीन न रहे और व्यावहारिक एव धार्मिक कार्यों मे उचित मर्यादा का पालन करे वह अपुनर्बंधक है।

(२) धर्म श्रवण करने की इच्छा, धर्म के प्रति प्रीति एव चित्त की स्वस्थता बनी रहे उस प्रकार देव एव गुरु की नियमित सेवा—ये सम्यग्दृष्टि जीव के लक्षण हैं।

(३) मोक्ष-मार्ग के अनुरूप प्रवृत्ति करने वाला, श्रद्धालु, धर्मोपदेश के योग्य, सत् क्रियाओ मे तत्पर, गुणानुरागी, सभवित धर्म आदि कार्य के लिये प्रत्यनशील हो वह चारित्रवान् है।

यह चारित्रवान् व्यक्ति जब तक वीतराग दशा प्राप्त न हो तब तक सामायिक की साधना मे ओत-प्रोत रहता है।

उक्त योग्यता के तारतम्य के अनुसार अनेक प्रकार का अधिकार होता है। यहाँ योग के साधको का अपुनर्बंधक, सम्यग्-दृष्टि, देशविरति एव सर्वविरति इन चार विभागो मे वर्गीकरण किया गया है। योग प्राप्ति की मूल-भूमिका अपुनर्बंधक दशा है।

उक्त अपुनर्बंधक आदि कक्षा के जीवो का अपनी-अपनी भूमिका के योग्य आज्ञा-स्वरूप अमृत से युक्त जो अनुष्ठान है, वह

सब 'योग' ही है, क्योकि समस्त आस्तिक-दर्शन-सम्मत योग के लक्षण जैसे, चित्त-वृत्ति निरोध, कुशल प्रवृत्ति, मोक्ष के साथ सम्बन्ध कराना आदि उपर्युक्त अपुनर्बंधक आदि जीवो के अनुष्ठान पर बराबर चरितार्थ होते है।

तात्पर्य यह है कि साधक का अपनी भूमिका के अनुसार प्रत्येक सद् अनुष्ठान योग है, "जो मोक्ष के साथ सम्बन्ध कराता है वह सब योग है।"

'योग' की इस परिभाषा के तात्पर्य का विचार करने से स्पष्ट समझा जा सकता है कि जैन-दर्शन और उसके आचार-मार्ग मे योग-साधना कितनी व्यापक है।

पूज्य श्री हरिभद्रसूरिजी महाराज ने 'योग-बिन्दु' मे जैन दृष्टि से योग और उसके अधिकारी आदि के सम्बन्ध मे विस्तृत निरूपण एव विवेचन किया है। उसमे योग-मार्ग के अधिकारी एव अनाधिकारी की अपेक्षा से जीवो को मुख्य दो विभागो मे विभाजित किया है। एक विभाग है चरमावर्ती जीव और दूसरा विभाग है अचरमावर्ती जीव।

चरमावर्ती अर्थात् जिनका चरम (अन्तिम) आवर्त—पुद्गल परावर्त ससार-काल शेष रहा हो वे जीव। इनके अतिरिक्त जीव अचरमावर्ती कहलाते हैं।

अचरमावर्त काल मे जीव पर मोह का प्रबल प्रभाव होता है जिससे वे तीव्र पाप-वृत्ति एव सक्लेश युक्त होते है। उनके विवेक-चक्षु बन्द होते है जिससे वे सार-असार को देख अथवा जान नही सकते, अत. वे अन्धो की तरह ठोकर खाते है, पछाड खाते है, फिर भी वे सुमार्ग प्राप्त नही कर पाते। वे मोह के प्रगाढ प्रभाव के कारण भवाभिनदी अर्थात् ससार के भोगो मे ही आनन्द मानने वाले होने से लोक-रजन, कीर्ति आदि की कामना से धर्म-प्रवृत्ति करते हुए दृष्टिगोचर होते है, तथापि श्रद्धा-विहीन होने से वे योग के अधिकारी नही हो सकते।

भवाभिनन्दी जीव मे कृपणता, याचक-वृत्ति, दीनता, ईर्ष्या, भय, शठता एव मूर्खता आदि दोष अत्यन्त प्रगाढ होते हैं। कृपणता आदि दोषो से प्रगाढ रूप से अनुरक्त मन वाले जीवो को योग अथवा धर्म प्राप्त करने के योग्य एव पात्र नही माना जाता।

प्रत्येक जीव में अनादि काल से कर्म के सम्पर्क मे आने की योग्यता विद्यमान है, जिसे 'सहजमल' कहते है। इस सहजमल का यकायक एक साथ ह्रास नही होता, परन्तु प्रत्येक पुद्‌गलावर्त मे उसका क्रमशः थोडा-थोडा ह्रास होता जाता है और उक्त ह्रास के प्रमाण मे जीव की पात्रता भी विकसित होती रहती है। अनादि काल से परिभ्रमण करते जीव भवितव्यतावश जब चरमावर्त मे प्रविष्ट होते हैं, तब उक्त सहजमल अल्प मात्रा में शेष रहता है और उन जीवो का मोक्ष समीप आ जाता है। उनके कृपणता, क्षुद्रता आदि दोष नष्ट हो जाते है और औदार्य आदि गुण प्रकट होते है, उनका अन्त.करण निर्मल एव श्रद्धा सम्पन्न हो जाता है। अतः चरमावर्ती जीव योग के अधिकारी हैं।

इन चरमावर्ती जीवों के तीन प्रकार बताये है—(१) अपुनबँधक, (२) मार्गाभिमुख (३) मार्ग-प्रतिष्ठ।

मोहनीय आदि कर्मो की उत्कृष्ट स्थिति का पुनः बन्ध न हो, उस प्रकार से क्षय करने वाले जीव 'अपुनर्बंधक' कहलाते हैं।

सम्यग्-दर्शन आदि स्वरूप मोक्ष-मार्ग के सम्मुख बने जीव मार्गाभिमुख' कहलाते हैं।

मोक्ष-मार्ग मे स्थिर बने जीव 'मार्ग-प्रतिष्ठ' कहलाते हैं।

इन तीनो स्तर के जीवो की चित्त-शुद्धि क्रमशः अधिकाधिक होती है, तथा योग प्रसाद की प्रथम भूमिका के रूप मे उनमे तात्त्विक रूप से 'पूर्वसेवा' भी होती है। शेष सकृतबन्धक आदि जीवो मे यह 'पूर्व सेवा' उपचार से होती है, क्योकि उनमे उस प्रकार का वैराग्य आदि नही होता।

देव-गुरु की पूजा, सदाचार, तप, मुक्ति का राग आदि गुण 'पूर्व सेवा' स्वरूप है ।

इस प्रकार योग के अधिकारी और उनके विविध आचार-विचारो का वर्णन करके अध्यात्म आदि पाँच प्रकार के योग के स्वरूप का वर्णन किया गया है जो निम्नलिखित है ।

अध्यात्म आदि पाँच योग

इन पाँच प्रकार के योगो मे प्रथम 'अध्यात्म योग' है, जिसमें औचित्य पालन, मैत्री आदि भावनाओ का सेवन, शास्त्रोक्त तत्त्व-चिन्तन, मंत्र-जाप, परमात्म-स्तवना, सामायिक आदि छ आवश्यको की आराधना आदि का समावेश होता है ।

अध्यात्म-योग का पुन -पुनः भाव पूर्वक सेवन करने से मन समाहित—स्वस्थ हो, समाधियुक्त हो—यह 'भावना-योग' है ।

भावना-योग से अनादिकालीन मलिन वृत्तियो के सस्कार नष्ट हो जाते हैं, ज्ञान-ध्यान आदि की उपासना मे तीव्रता आती है और चित्त की विशुद्धि मे वृद्धि होती है ।

भावना-योग विकसित होने पर जब चित्त एक ही विषय मे—आलम्बन मे निर्वात स्थान मे स्थित दीपक की तरह स्थिर हो जाता है तो वह 'ध्यान-योग' कहलाता है ।

ध्यान-योग के फल स्वरूप इष्ट एव अनिष्ट वस्तुओ अथवा सयोगो मे समता भाव रहे वह 'समता-योग' है । इसे समाधि एव सामायिक भी कहते है ।

उक्त चारो योगो की सिद्धि होने पर 'वृत्ति-सक्षय योग' प्रकट होता है । इसमे मनोद्रव्य के सयोग से उत्पन्न विकल्प स्वरूप वृत्तियो का सर्वथा निरोध तथा देह-सचालन से उत्पन्न होने वाली परिस्पन्दन स्वरूप वृत्तियो का भी सर्वथा निरोध होता है ।

इस योग मे परमार्थ से आत्मा मे निहित कर्म के सम्पर्क मे आने की योग्यता का प्राय· नाश होता है ।

आत्मा की वृत्तियो के दो प्रकार हैं—एक स्थूल चेष्टा रूप (गमनागमन रूप) और दूसरा सूक्ष्म चेष्टा रूप (श्वासोच्छ्वास रूप)। ये दोनो वृत्तिया कर्मसयोगजन्य है। तात्पर्य यह है कि कर्म के सम्बन्ध में आने की योग्यता ही ससार-वृक्ष का मूल है। वृत्ति पत्तो के तुल्य है। अत मूल नष्ट होने पर पत्तो का स्वतः ही नाश हो जाता है।

अध्यात्म आदि योग जीव की कर्म के सम्पर्क मे आने की योग्यता रूपी सहजमल का क्रमशः नाश करके जीव की मोक्ष-गमन योग्यता का विकास करते है।

चित्त-वृत्तियो का निरोध करना योग है। इसके दो प्रकार हैं—(१) अशुभ योग से निवृत्त होकर शुभ योग मे प्रवृत्त होना, (२) चित्त-वृत्तियो का सर्वथा निरोध करना।

अध्यात्म योग आदि प्रथम चार योगो मे पहले भेद का समावेश होता है और 'वृत्ति-सक्षय' मे दूसरे भेद का समावेश होता है।

उक्त पाँचो योग चित्त-वृत्ति-निरोध स्वरूप होने पर भी प्रारम्भ मे एक साथ समस्त वृत्तियो का निरोध नही हो सकता, परन्तु क्रमशः प्रत्येक योग मे निरोध के प्रमाण मे वृद्धि होती रहती है और अन्त मे पूर्ण निरोध की योग्यता आने पर अयोगी अवस्था और उसके फल-स्वरूप सिद्धत्व प्रकट होता है, अर्थात् आत्मा दु खरहित, कर्मरहित एव देहरहित होकर अपने पूर्ण चिदानन्दमय शुद्ध स्वभाव को प्राप्त होती है।

इस प्रकार 'योग-बिन्दु' मे योग के अधिकारी, योग की पूर्व सेवा, पूर्व भूमिका तथा अध्यात्म आदि योगो का विस्तृत वर्णन है। उसमे योग की पूर्व भूमिका के रूप मे जो देव-गुरु-पूजा, सदाचार, तप और मोक्ष-राग आदि गुण प्रदर्शित किये गये है, वे योग की योग्यता के बीज स्वरूप है। ये ही बीज क्रमश. अकुर आदि के रूप मे पल्लवित होकर अर्थात् परिणमन पाकर अध्यात्म योग आदि के रूप मे फल उत्पन्न करते है।

योग-बीजो के इस क्रमिक विकास का स्पष्ट वर्णन योग की 'मित्रा' आदि दृष्टियो के निरूपण के द्वारा 'योग-दृष्टि-समुच्चय' ग्रन्थ मे पूज्य श्री हरिभद्रसूरिजी महाराज ने किया है। उक्त वर्णन अत्यन्त मननीय एव उपयोगी/उपकारी होने से उस पर हम सक्षेप मे विचार करें—

योग की ये आठ दृष्टियाँ उत्तरोत्तर विकास की ओर अग्रसर होती है। योग-साधना के आठ चरण हैं, आठ सीढियाँ है। यहाँ 'दृष्टि' का अर्थ श्रद्धायुक्त ज्ञान है।

इन आठ दृष्टियो से साधक को क्रमश: किस प्रकार का बोध—आन्तरिक प्रकाश, किस प्रकार का योगाग और कौनसा गुण प्राप्त होता है, तथा कौन-कौनसा दोष नष्ट होता है, वह निम्न प्रकोष्ठ मे प्रदर्शित किया गया है।

क्रमाक	बोध	बोध—आन्तरिक प्रकाश	योग	गुण प्राप्ति	दोष-नाश
१	मित्रा	तृणाग्नि के प्रकाश तुल्य	यम	अद्वेष	खेद
२	तारा	गोमय (छाण) अग्नि के प्रकाश तुल्य	नियम	जिज्ञासा	उद्वेग
३	बला	काष्ठाग्नि के प्रकाश तुल्य	आसन	शुश्रूषा	विक्षेप
४	दीप्रा	दीपक के प्रकाश तुल्य	प्राणा-याम	श्रवण	उत्थान
५	स्थिरा	रत्न के प्रकाश तुल्य	प्रत्याहार	बोध	भ्रान्ति
६	कान्ता	तारे के प्रकाश तुल्य	धारणा	मीमासा	अन्यमुद्
७	प्रभा	सूर्य के प्रकाश तुल्य	ध्यान	शुद्ध प्रतिपत्ति	रोग
८	परा	चन्द्रमा के प्रकाश तुल्य	समाधि	प्रवृत्ति	आसग

इन आठ दृष्टियो मे से प्रथम की चार दृष्टियाँ सम्यक्त्व से पूर्व होती हैं और वे अपुनर्बंधक, मार्गानुसारी जीवो के विकास के तारतम्य को प्रदर्शित करती हैं।

अन्तिम चार दृष्टिया सम्यग्-दर्शन एव सम्यक् चारित्र वाले जीवो को होती हैं, जो 'अध्यात्म' आदि योगो के अधिकारी हैं।

पूज्य श्री हरिभद्रसूरिजी महाराज ने 'षोडशक' ग्रन्थ मे साधु एव श्रावको के योग्य सदनुष्ठानो का वर्णन किया है, जिसमे गुरु-विनय, शास्त्राध्ययन, योगाभ्यास आदि का साधुओ के सद्नुष्ठान के रूप मे निर्देश दिया है।

उसमे बतलाया है कि साधु सर्व प्रथम अपने अनन्य उपकारी गुरु का उचित विनय, उनकी सेवा-भक्ति करते हुए उनसे शास्त्रो का अध्ययन-मनन करे और तत्पश्चात् योगाभ्यास के रूप मे स्थान, वर्ण, अर्थ, आलम्बन और अनालम्बन योगो का अभ्यास करे।

प्रात· स्मरणीय श्री भद्रबाहु स्वामी ने 'आवश्यक निर्युक्ति' मे साधु की व्याख्या करते हुए बताया है कि 'निव्वाण साहए जोगे जम्हा साहति साहुणो' अर्थात् जो निर्वाण-साधक योगो की साधना करता है वह साधु कहलाता है।

इसका तात्पर्य यही है कि जहाँ योगाभ्यास है, योग की विशुद्ध साधना है, वहाँ साधुता है। यह योगाभ्यास किसी उद्देश्य से नही, परन्तु केवल निर्वाण (मोक्ष) प्राप्ति के लक्ष्य से ही करना चाहिये।

स्थान आदि पाँच योग एव उनका अभ्यास

१ स्थान योग—कायोत्सर्ग, पद्मासन आदि आसन।

२. वर्ण योग — आवश्यक आदि क्रियाओ मे बोले जाने वाले सूत्रों का स्पष्ट एव शुद्ध उच्चारण।

३. अर्थ योग — सूत्रार्थ का चिन्तन।

४. आलम्बन योग — जिन प्रतिमा आदि के बाह्य आलम्बन द्वारा किया जाने वाला ध्यान।

५. अनालम्बन योग—सालम्बन ध्यान के फल स्वरूप प्रकट होने वाली निर्विकल्प चिन्मात्र समाधि।

स्थान आदि पाँच योगो मे प्रथम तीन योग अध्यात्म-योग एव भावना-योग स्वरूप है, आलम्बन योग ध्यान-योग है तथा अनालम्बन योग वृत्ति-सक्षय-योग स्वरूप है।

इस प्रकार स्थानादि योग और अध्यात्म आदि दोनो प्रकार के योग परमार्थतः एक ही है। अथवा पाँच योगो मे से प्रारम्भ के दो योग कर्म योग है और अन्तिम तीन योग ज्ञान-योग है। पाँचो प्रकार के ये योग देश-विरति एव सर्व-विरतिधर जीवो मे अवश्य होते हैं, अपुनर्बंधक और सम्यग्-दृष्टि जीवो मे ये बीज रूप मे होते हैं।

योगाभ्यास

साधु, साध्वी, श्रावक एव श्राविका स्वरूप चतुर्विध सघ मे नित्य, नियमित प्रात.-साय दोनो समय अनिवार्य रूप से करने की प्रतिक्रमण आदि आवश्यक क्रियाओ मे तथा जिनालय मे प्रभु के समक्ष की जाने वाली चैत्यवन्दन आदि क्रियाओ मे जिन-जिन आसनो पर एव मुद्राओं मे बैठने का विधान है, तदनुसार बैठने से स्थान-योग का अभ्यास होता है।

धर्म-क्रियाओं मे जो-जो सूत्र बोले जाते हैं, उन सूत्रो के शुद्ध एव स्पष्ट उच्चारण तथा उनके अर्थो का चिन्तन करने से वर्ण योग एव अर्थ-योग का अभ्यास होता है।

वे धर्म-क्रिया करते समय जिन-प्रतिमा अथवा स्थापनाचार्यजी के समक्ष दृष्टि स्थिर रखकर उनका ध्यान करने से आलम्बन-योग का अभ्यास होता है और आलम्बन योग के दीर्घकालीन अभ्यास से उसके फलस्वरूप बाह्य आलम्बन के बिना जो निर्विकल्प चिन्मात्र समाधि प्राप्त होती है वह अनालम्बन योग होता है।

आवश्यकादि क्रियाएँ विशिष्ट प्रकार का योगाभ्यास है। शास्त्र-विहित ये क्रियाएँ उनकी विधि के अनुसार, आत्मा के उपयोग

को, मन को उनमे लीन करके तन्मय होकर करने से अपूर्व-अपूर्व शुभ भावना की उत्पत्ति होती है और उनके द्वारा अनेक जन्मो के क्लिष्ट कर्मो का क्षय होता है, क्रमशः आत्म-शुद्धि मे वृद्धि होती रहती है।

इस प्रकार पूज्य श्री हरिभद्रसूरिजी महाराज के योग-ग्रन्थो का अध्ययन, मनन, परिशीलन करने से सर्वज्ञ कथित सामायिक धर्म की व्यापकता एव गम्भीरता की विशेष स्पष्ट प्रतीति होने के साथ जैन-शासन मे विहित प्रत्येक क्रिया एव अनुष्ठान योगाभ्यास स्वरूप हैं इसका पूर्ण विश्वास होता है।

ध्यान एव समाधि की उच्च कक्षा तक पहुँचने के लिये उससे पूर्व यम-नियम आदि के रूप मे आचारो का सम्यक् पालन करना आवश्यक है।

प्रत्येक साधक यदि अपने स्तर के अनुरूप आचारो का विशुद्ध भाव पूर्वक यथा विधि पालन करता है, तभी वह ध्यान एव समाधि की वास्तविक भूमिका प्राप्त करके उसमे यथार्थ प्रगति कर सकता है।

पूज्य हरिभद्रसूरिजी महाराज एक असाधारण कोटि के प्रज्ञावत सुप्रसिद्ध जैनाचार्य थे, एक योगद्रष्टा महापुरुष थे। उन्होने तत्कालीन प्रचलित योग-साधना एव परिस्थिति आदि का अध्ययन करके आगमोक्त ध्यान-योग की विशदता एव व्यापकता को अनुपम रूप मे व्यक्त किया है और अन्य दर्शनो मे विख्यात पातजल-योग सूत्र आदि योग-ग्रन्थो मे निर्दिष्ट योग-प्रक्रियाओ तथा उनकी परिभाषाओ के साथ तर्क-युक्त एव तत्त्व-सगत समन्वय करके सागर तुल्य विशाल एव अगाध जैन-वाङ्मय की गरिमा को उजागर किया है।

जैन-दर्शन मे योग क्या है? उसकी साधना किस प्रकार की जाती है? आदि प्रश्नो का स्पष्ट विवेचन एव निराकरण आप श्री द्वारा रचित योग-बिन्दु, योग-शतक, योग-दृष्टि-समुच्चय आदि ग्रन्थो मे है जिसका यहाँ सक्षेप मे विचार किया गया है।

कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्रसूरिजी महाराज ने स्वरचित 'योगशास्त्र' मे यम-नियम आदि योगागो का क्रमपूर्वक, शृ खला-वद्ध, मननीय वर्णन किया है। उसका भी अध्ययन, परिशीलन करने से जैन-दर्शन मे योग क्या है और वह कितना व्यापक है ? इस जिज्ञासा की तृप्ति होती है, समाधान होता है। हम उस 'योगशास्त्र' के भी सक्षिप्त सार का यहाँ चिन्तन करेगे।

योग-शास्त्र-सार

'योग' क्या है ? उसकी स्पष्ट परिभाषा बताते हुए पूज्य श्री हेमचन्द्रसूरिजी महाराज ने स्पष्ट किया है कि—"धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार पुरुषार्थों मे मोक्ष पुरुषार्थ प्रधान है। उसका मुख्य साधन योग है और वह योग ज्ञान, श्रद्धा एव चारित्र स्वरूप रत्नत्रयीमय है। अर्थात् श्रद्धा युक्त ज्ञान एव आचरण स्वरूप चारित्र ही 'योग' है।

मोक्षार्थी साधको को सम्यग्-ज्ञान (ज्ञान-योग), सम्यग्-दर्शन (भक्ति-योग) और सम्यक्-चारित्र (यम-नियमादि स्वरूप कर्म-योग) की आराधना करनी चाहिये।

आप श्री ने उक्त ग्रन्थ के प्रथम प्रकाश मे योग के प्रभाव का विवेचन किया है।

प्रथम प्रकाश—योग का प्रभाव :

योग से समस्त विपदाएं समूल नष्ट होती है। समस्त विपदाओ के मूल पाप-पुञ्जो का भी योग से अल्प काल मे नाश होता है।

तात्पर्य यह है कि योग से पाप-कर्मों का नाश होता है।

योग से पुण्य-कर्म पुष्ट होते है।

योग से मोक्ष-प्रापक समस्त साधन प्राप्त होते है।

योग से आत्म-गुण प्रकाशित होते हैं।

निर्मल अवधि-ज्ञान, मन-पर्यवज्ञान, केवल ज्ञान और मोक्ष की प्राप्ति भी योग से होती है।

देव-दुर्लभ इस मानव-भव को सफल करने वाला योग ही है। योग-साधना के शिखर पर आरूढ होकर मुक्ति-पद प्राप्त करने का अधिकार केवल मानव को ही प्राप्त हुआ है। अमूल्य मानव-जन्म प्राप्त करके जिसने योग-साधना नही की, ज्ञानी महापुरुषो ने उस व्यक्ति की तुलना पशु से की है।

यम और नियम

योग, ध्यान एव समाधि स्वरूप है। उस ध्यान और समाधि की उच्च कक्षा तक पहुँचने के लिये यम-नियम आदि आचार-धर्म का पालन सर्व प्रथम आवश्यक एव उपकारक है, जिससे 'योग-शास्त्र' मे सर्व प्रथम उसका ही वर्णन किया गया है।

यम-नियम की प्रणाली सामान्यतया देखने पर सरल प्रतीत होती है, परन्तु उसका अभ्यास अत्यन्त विकट है। उसमे पाच इन्द्रियो के अनुकूल विषयो पर एव उनकी वासना पर नियन्त्रण करने का प्रचण्ड एवं भव्य पुरुषार्थ करना पडता है।

यम-नियम की साधना मे कुशलता प्राप्त किये बिना मोक्ष-मार्ग मे प्रगति सम्भव नही हैं।

ज्ञानादि योगों का स्वरूप

जैन-दर्शन मे गृहस्थ एव मुनि के लिये भिन्न-भिन्न आचार-मार्ग प्रदर्शित किया गया है। मोक्ष-प्राप्ति के लिये विशुद्ध आचार का पालन आवश्यक है। साधना-पथ मे सम्यग् आचार, निरवद्य–निष्पाप प्रवृत्ति अर्थात् सच्चारित्र को सर्वाधिक महत्त्व है; और वह सम्यक्-चारित्र का सर्जन, सम्यग्-दर्शन एव सम्यग्-ज्ञान की सहायता की अपेक्षा रखता है।

सम्यग्-दर्शन अर्थात् यथार्थ दर्शन। जो पदार्थ जैसा है, उसे वैसा ही देखना। इस सम्यग्-दर्शन गुण की निर्मलता के अनुसार साधक मोक्ष-मार्ग मे अग्रसर हो सकता है। समकित को मोक्ष का मूल कहकर अनन्त ज्ञानी भगवतो ने इसी सम्यग्-दर्शन गुण की अपार शक्ति की प्रशसा की है।

सम्यग्-दर्शनानुसारी ज्ञान सदा सम्यग् होता है और तदनुरूप व्यवहार सम्यक्-चारित्र है।

इन तीनो का सुभग समन्वय हो, उसे 'योग' कहा है और इस कारण ही मोक्ष-लक्षी समस्त धर्म-व्यापार को 'योग' कहा है।

यम-नियम आदि योग के अग क्रियात्मक है, उनमे अहिंसा आदि पाँच व्रत, अणुव्रत एवं सत्य, सयम आदि का अन्तर्भाव है।

पूज्य श्री हरिभद्रसूरिजी महाराज ने स्पष्ट किया है कि—

"इह हिंसादयः पंच सुप्रसिद्धा यमा सताम्"

अर्थात् अहिंसा से अपरिग्रह तक के पांच व्रत इस लोक मे अत्यन्त प्रसिद्ध पाँच यम हैं।❀

"पातजल योगसूत्र' मे भी सर्व प्रथम यम का ही निर्देश है—

"अहिंसा-सत्यास्तेय ब्रह्मचर्या परिग्रहा यमाः।"

अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह यम है।

अहिंसा आदि पाँचो चारित्र के ही पाँच प्रकार है। कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्रसूरिजी महाराज ने उन्हे मोक्ष के कारण रूप मे वर्णित किया है।

"अहिंसा-सत्यमस्तेय-ब्रह्मचर्यापरिग्रहाः ।
पंचभिः पंचभिर्युक्ता, भावनाभिर्विमुक्तये ।।"

❀ योग-दृष्टि-समुच्चय

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पॉच महाव्रत हैं। प्रत्येक महाव्रत का अपनी पाँच-पॉच भावनाओ के साथ पालन किया जाये तो वे मुक्ति के लिये होते है। (योग-शास्त्र)

मुनि जीवन मे जिनका पालन करना अनिवार्य है, वे अष्ट प्रवचन माता भी चारित्र स्वरूप है, जिनके नाम निम्नलिखित हैं:—

१ ईर्या समिति, २ भाषा समिति, ३ एषणा समिति, ४. आदान-निक्षेप समिति, ५. उत्सर्ग समिति। इन पाँचो को 'समिति' कहते है। तथा मन, वचन, काया के योग का निरोध करना—ये तीन 'गुप्ति' कही जाती हैं।

ये पाँच समिति और तीन गुप्ति मिलकर 'अष्ट प्रवचन माता' कही जाती हैं।

समिति सम्यक् क्रिया स्वरूप हैं, गुप्ति निग्रह स्वरूप है। समिति द्रव्य सकोच स्वरूप है, गुप्ति प्रधानतः भाव-सकोच स्वरूप हैं।

तदुपरान्त इन आठो को इस कारण भी 'प्रवचन माता' कहते है कि ये आठो मिलकर चारित्र रूपी देह को (माता की तरह) जन्म देती हैं, उसका परिपालन करती है तथा उसकी अशुद्धि दूर करके उसे निर्मल बनाती है।

ये आठो माता अहिंसा आदि व्रतो को परिपुष्ट एव पावन करती हैं। उन्हे सम्बोधित करके ही प्रवचन की अर्थात् जिन-शासन की प्रवृत्ति होती है। अत. प्रवचन की माताएँ कहलाती हैं।

इस निष्पाप प्रवृत्ति स्वरूप चारित्र का पूर्ण रूपेण मुनियो द्वारा पालन होता है, इसलिये मुनियो का चारित्र सर्व विरति स्वरूप होता है। इन अहिंसा आदि का अमुक अशो मे गृहस्थ (श्रावक) पालन करते है। इस कारण श्रावको का देश-विरति स्वरूप चारित्र होता है।

योग के अधिकारी

योग के प्रमुख अधिकारी सर्व-विरतिधर मुनिगण है तथा उक्त मुनि-धर्म के अनुरागी देश-विरतिधर, देश-सयमी गृहस्थ श्रावक भी योग के द्वितीय श्रेणी के अधिकारी हैं। तदुपरान्त इन दोनो भूमिकाओ को प्राप्त करने के लिये पूर्णतः योग्य सम्यग्-दृष्टि एव मार्गानुसारी जीव भी गौण रूप से योगाभ्यास के अधिकारी हैं।

न्याय-सम्पन्न वैभव, शिष्टाचार, प्रशसा आदि ३५ गुण मार्गानुसारी की भूमिका के द्योतक हैं, जिनका वर्णन योगशास्त्र के प्रथम प्रकाश के श्लोक सख्या ४६ से ५६ तक मे किया गया है। योग की साधना के लिये ये प्राथमिक गुण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

इस प्रकार 'योगशास्त्र' के प्रथम प्रकाश मे योग की महिमा, योग के स्वरूप, योग-साधना से उपलब्ध होने वाली लब्धियाँ, चारित्र-आचार साधना मे साधु के पाँच महाव्रतो, उनकी २५ भावनाओं तथा साधु-धर्म एव श्रावक-धर्म का वर्णन है।

द्वितीय एवं तृतीय प्रकाशः—

योग-साधना में चारित्र (सयम) का महत्त्व

आत्म-दर्शन ही मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है।

आत्म-दर्शन अर्थात् जीव मात्र मे अपने समान आत्मा विद्यमान है तथा अपनी आत्मा शुद्ध स्वरूप मे परमात्मा-तुल्य है—इस आत्मैक्य एव परमात्मैक्य का दर्शन।

बहिरात्मदशा मे मोहाधीनता के कारण चेतना अत्यन्त सकीर्ण होती है। यह सकीर्ण चेतना अधिकतर अहकाराधीन होकर प्रवर्तित होती है। विशिष्ट चेतना सयम-शक्ति के द्वारा प्रकट होती है, विकसित होती है और सयम-शक्ति के अधीन रहकर विवेकपूर्ण

कार्य करती है। जिस प्रमाण मे जीवन मे सयम की (चारित्र की) शक्ति खिलती है, उसी प्रमाण मे चेतना उज्ज्वल एव उदात्त बनती है।

इस कारण ही योगशास्त्र के प्रथम, द्वितीय एव तृतीय प्रकाश मे चारित्र—आचार-साधना को अत्यन्त महत्त्व प्रदान कर उसका विशद वर्णन किया गया है।

सम्यग्-दृष्टि एव देश-विरति की भूमिका

जब तक मिथ्यादृष्टित्व दूर नही होता तब तक जीव को योग अथवा धर्म के प्रति रुचि ही उत्पन्न नही होती। यह मिथ्यादृष्टित्व किस प्रकार नष्ट हो, उसके लिये सम्यग्-दृष्टि की भूमिका समझना आवश्यक है।

अब कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्रसूरिजी के शब्दो मे सम्यग्-दृष्टि की भूमिका का दर्शन करें। "जीव, अजीव आदि तत्त्वो का सक्षिप्त एव विस्तृत ज्ञान होना सम्यग्-ज्ञान है; और उस प्रकार का सम्यग्-ज्ञान सर्वज्ञ, सर्वदृष्टा जिनेश्वर परमात्मा द्वारा प्रकाशित धर्म के अगभूत आगम-ग्रन्थो से ही प्राप्त हो सकता है। तात्पर्य यह कि जीव आदि तत्त्वो की रुचि होना अथवा देव-गुरु-धर्म तत्त्वो के प्रति शुद्ध श्रद्धा होना सम्यक्त्व अर्थात् सम्यग्-दृष्टिपना है।"

आत्म-दर्शन का महान् लक्ष्य सिद्ध करने के लिये शुद्धात्म-स्वरूपमय देव की, शुद्धात्म स्वरूप के साधक गुरु की और शुद्धात्म स्वरूप की साधना मे साधन स्वरूप धर्म की आराधना नितान्त आवश्यक है। और, उक्त आराधना उनको अच्छी तरह पहचान कर की जाये तो ही साधक को सिद्धिदायक हो सकती है। अतः जैन-दर्शन मे सम्यक्त्व को धर्म, अध्यात्म अथवा योग-साधना की नीव के रूप मे अथवा द्वार के रूप मे अग्रिम स्थान दिया गया है।

आत्म-तत्त्व की प्रतीति के रूप मे नैश्चयिक सम्यग्-दर्शन की प्राप्ति भी शुद्ध देव-गुरु-धर्म की निर्मल श्रद्धा स्वरूप व्यावहारिक सम्यक्त्व की अपेक्षा रखती है।

साधना मे जितना महत्त्व साध्य का है, उतना ही महत्त्व साधन का भी है। साध्य निश्चित करने के पश्चात् उसकी प्राप्ति के जो सबल साधन है, उन्हे उचित प्रकार से उपयोग मे लिया जाय तो क्रमश: उसका फल अवश्य प्राप्त होता है।

इस महत्त्वपूर्ण नियम को दृष्टिगत रखकर कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्रसूरिजी महाराज ने ध्यान एव समाधि की अनन्य साधना स्वरूप सम्यक्त्व तथा अहिंसा आदि महाव्रतो का क्रमिक निरूपण किया है।

हमारे जीवन में सम्यक्त्व की मंगलमय भूमिका का प्रादुर्भाव हुआ अथवा नही, यह ज्ञात करने के लिये शम, सवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिकता—सम्यक्त्व के इन पाँच लक्षणो का यथार्थ स्वरूप जानकर, समझकर, स्वीकृत करके उसे जीवन मे प्रतिष्ठित करना चाहिये और सतत आत्म-निरीक्षण के द्वारा उसकी यथार्थता की जाँच करनी चाहिये।

लक्षपाक तेल की एक के पश्चात् एक बोतल फूट जाने पर भी सुलसाजी के एक रोम मे भी व्यथा अथवा कम्पन उत्पन्न नही हुआ था। इसका कारण उनका सम्यक्त्व मध्याह्न के सूर्य के समान चमकीला था, अनुपम निर्मल था।

'मेरा सम्यक्त्व इतना इतना निर्मल है अथवा नही' उसकी सतत जाँच प्रत्येक धर्माराधक को करनी चाहिये।

सुदेव, सुगुरु की भक्ति, सुधर्म की आराधना और उसे पुष्ट करने वाली भावनाओ तथा साधार्मिक-वात्सल्य आदि के द्वारा सम्यक्त्व को अधिकाधिक सुदृढ एवं निर्मल बनाना चाहिये और सम्यक्त्व को भूमिका को तनिक भी आँच न पाये, उसके लिये शका, आकाक्षा आदि दोषो से बचने के लिये सदा सजग रहना चाहिये।

देश-विरति धर्म का स्वरूप

गृहस्थ जीवन मे सम्भव हो उस प्रकार से स्थूल हिसा आदि महान् दोषो से दूर रहना श्रावक धर्म है।

इसमे सर्व प्रथम अहिसा व्रत है। इस व्रत मे मन, वचन एव काया से हिसा का त्याग करना पडता है। इतना ही नही, परन्तु किसी अन्य व्यक्ति से हिसा कराने तथा हिसा करने वाले व्यक्ति का अनुमोदन करने का भी त्याग करना पडता है।

इसी प्रकार से सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एव अपरिग्रह व्रतो का भी निरतिचारपन से पालन करना पडता है।

दिशा-परिमाण आदि तीन गुण व्रतो एव सामायिक आदि चार शिक्षा व्रतो का भी पालन करना अनिवार्य होता है।

इस प्रकार सम्यक्त्व युक्त इन बारह व्रतो का धारक/पालक गृहस्थ देशविरतिधर श्रावक कहलाता है।

श्रावक की दिनचर्या

कर्म के योग से गृहस्थ जीवन जीने वाले श्रावक को ब्राह्म-मुहूर्त मे प्रातः उठते ही परम मगलकारी श्री पच परमेष्ठि नमस्कार महामत्र का स्मरण करना चाहिये।

तत्पश्चात् स्थिर चित्त से अपने कर्त्तव्यो एव व्रतो का स्मरण करना चाहिये।

नित्य त्रिकाल-जिन-पूजा भक्ति, विधि एव भाव पूर्वक करनी चाहिये, गुरु-वन्दन तथा गुरु-सेवा करनी चाहिये।

जीवन-निर्वाहार्थ न्याय मार्ग पर चलकर उचित जीविकोपार्जन करना चाहिये, महा आरम्भपूर्ण व्यापार आदि नही करना चाहिये।

स्वाध्याय, तत्त्व-चिन्तन और प्रतिक्रमण आदि आवश्यक क्रियाएँ उल्लास पूर्वक करनी चाहिये।

विनाशी पुद्गल पदार्थों के प्रति ममता घटाने और अविनाशी आत्मा की शुद्धि एव गुण-वृद्धि मे निरन्तर सावधान एव प्रयत्नशील रहना चाहिये।

'सासारिक बन्धन त्याग कर मैं कब सयममय मुनि-जीवन प्राप्त करूँगा और सम्यग्-ज्ञान आदि उत्तम योगो का मैं कब आराधक बनूँगा'—ऐसे शुभ मनोरथ करने चाहिये।

इस प्रकार की उत्तम दिनचर्या सहित अणुव्रतो का पालक श्रावक आत्म-शुद्धि प्राप्त करता है और उसके प्रभाव से वह सद्गति को प्राप्त करता है।

सर्व-विरति का स्वरूप

सब प्रकार से, मन, वचन और काया से करने, कराने और अनुमोदन से सावद्य अर्थात् पाप-व्यापार का त्याग सर्व-विरति है। उससे अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह – इन पाँच महाव्रतो का दृढता पूर्वक निर्मल पालन करने के साथ प्रत्येक महाव्रत की पाँच भावनाओ को अपने भीतर उतारने से क्रमशः मुक्ति-सुख की प्राप्ति होती है।

साध्वाचार अर्थात् संयममय योग-पूर्ण जीवन। मुनि-जीवन की आचार सहिता ही इतनी विशिष्ट है कि उसमे योग-साधना की प्रत्येक भूमिका का सम्यक् प्रकार से पालन करने के लिये वह समर्थ बन सकता है।

पाँच समिति एव तीन गुप्ति के पालन से मुनि का चारित्र उत्तरोत्तर निर्मल एव पुष्ट बनता है।

निर्मल चारित्रवान् मुनि राग-द्वेष, अह–मम और समस्त प्रकार के पर-भाव से परे होकर सदा समता भाव मे स्थित होता है।

इस प्रकार योग-शास्त्र के तृतीय प्रकाश मे सम्यग्-दर्शन, ज्ञान और चारित्र स्वरूप व्यवहार रत्नत्रयी का निरूपण किया गया है; जिसके परिपालन से यम और नियम का सुन्दर अभ्यास होने के साथ साधक की आत्मा निश्चयतः रत्नत्रयी को प्राप्त करने के योग्य बनती है।

चौथा प्रकाश

'योगशास्त्र' के चौथे प्रकाश मे मुख्यतः आत्म-ज्ञान कैसे प्राप्त किया जाता है, उसके उपायो का निर्देश है।

निश्चय नय की अपेक्षा से मुनि की आत्मा ही सम्यग्-दर्शन, सम्यग्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र है; क्योकि रत्नत्रयीमय आत्मा ही इस देह में विद्यमान है; अर्थात् निश्चय से दर्शन, ज्ञान और चारित्र गुण अपनी गुणी आत्मा के अतिरिक्त अन्यत्र कही भी नही रहते। गुण-गुणी का अभेद सम्बन्ध होता है।

आत्मा, आत्मा के द्वारा मोह का त्याग करके आत्मा मे ही लीन होकर शुद्ध आत्मा को जानती है; वही उसका चारित्र है, ज्ञान है, दर्शन है।

पर-ब्रह्म स्वरूप आत्मा का निश्चय यह सम्यग् दर्शन है।

पर-ब्रह्म स्वरूप आत्मा का स्पष्ट बोध यह सम्यग् ज्ञान है।

पर-ब्रह्म स्वरूप आत्मा मे स्थिरता यह सम्यक् चारित्र है।

सातवें अप्रमत्त गुणस्थान की भूमिका मे इन तीनो गुणो की एकता का अनुभव होता है।

जब आत्मा समस्त प्रकार के ग्रहण एव त्याग के विकल्पो को त्यागकर, बाह्य व्यापारो से विश्रान्त होकर अपने सम्यग्-दर्शन, ज्ञान और चारित्र के साथ तादात्म्य-भाव स्थापित करती है, तब रत्नत्रयी की एकता की अनुभूति होती है और उसे ही 'निश्चय रत्नत्रयी' कहते हैं।

आत्म ज्ञान का महत्त्व

इस प्रकार आत्मा का अनुभव होना 'आत्म-ज्ञान' है।

इस प्रकार के आत्मानुभव के विना ससारी जीव भव मे भ्रमण करता रहता है, जन्म-मरण आदि के दु सह्य दुःख भोगता रहता है। आत्म-ज्ञान होने से अज्ञान-जनित समस्त दुःखो का समूल क्षय होता है। सचमुच, आत्म-ज्ञानरहित घोर तप भी कर्मों का छेदन-भेदन करने मे समर्थ नही हो सकता।

आत्मा चैतन्य स्वरूप है। कर्म-सयोग से वह देहधारी कहलाती है, परन्तु जब ध्यानाग्नि के द्वारा कर्म का सम्पूर्ण क्षय होता है तब वह निरञ्जन, सिद्धात्म-स्वरूपी वन जाती है।

आत्मा ही संसार और मोक्ष है

परमार्थ से सोचने पर आत्मा ही ससार और मोक्ष स्वरूप है।

जब आत्मा विषय-कषाय के अधीन बनती है, तब वह संसार का सृजन करती होने से 'ससार' कहलाती है और जब आत्मा विषय-कषायो की विजेता बनती है, तब वही मोक्ष कहलाती है।

मोक्ष-प्राप्ति का उत्तम उपाय—ध्यान-योग ·

समस्त कर्मों का सम्पूर्ण रूप से क्षय होने पर मोक्ष—शुद्धात्म स्वरूप की प्राप्ति होती है।

कर्म का क्षय आत्म-ज्ञान से होता है और आत्म-ज्ञान, आत्मानुभव स्वरूप ध्यान के सतत अभ्यास से होता है; अत. मुमुक्षु साधको के लिये ध्यान-योग अत्यन्त हितकारी है।

समता के बिना ध्यान नही होता, नही आता, तथा निश्चल समता ध्यान के बिना सम्भव नही है। इस प्रकार ध्यान और समता एक दूसरे के पूरक एव प्रेरक है। इस कारण ही साधक व्यक्ति प्रत्येक

परिस्थिति में समता रखकर ध्यान-मग्न रहने का श्रेष्ठ पुरुषार्थ करते है और उसमे वाछित प्रगति करते है ।

ध्याता का ध्येयाकार से परिणमन ध्यान है जो समता से अभिन्न होता है । ध्यानस्थ मनुष्य समतावान होगा ही । यदि नही हो तो वह सच्चा ध्यानी नही है ।

तात्पर्य यह है कि समता आत्मा की सच्ची सम्पत्ति है । उसकी सम्यक् प्रकार से रक्षा करने से पूर्ण सामायिक प्राप्त की जा सकती है ।

समता के घर मे स्थायी निवास करने के लिये अनित्यत्व आदि बारह भावनाओ तथा मैत्री आदि चार भावनाओ के स्वरूप का चिन्तन-मनन आवश्यक है ।

अनित्यता आदि भावनाओ से मिथ्या, ममत्व आदि का क्षय होता है और मैत्री आदि भावनाओ से आत्म-समता का उदय होता है ।

विषय-कषाय की प्रबलता को पराजित किये बिना मन की मलिनता नष्ट नही होती और मलिन मन मे आत्म-ध्यान नही आता ।

तात्पर्य यह है कि ध्यान के लिये चित्त की शुद्धता अनिवार्य है ।

छद्मस्थ साधको का मन स्थिरता स्वरूप ध्यान केवल अन्त-र्मुहूर्त काल तक स्थिर रह सकता है । तत्पश्चात् चित्त चचल हो जाता है । चचल चित्त को पुनः अन्य ध्यान मे लगाने के लिये तत्त्व-चिन्तन एव मैत्री आदि भावनाओ के आलम्बन की आवश्यकता होती है । भावनाएं टूटी हुई धर्म-ध्यान की धारा को जोडने के लिये अद्भुत रसायन का काम करती है ।

इस प्रकार के तात्त्विक चिन्तन के द्वारा तथा शास्त्रोक्त भावनाओं के आलम्बन से दीर्घ काल तक ध्यान का प्रवाह अबाधित गति से चलता रहता रहता है, जिसके फलस्वरूप लय अवस्था रूपी समाधि प्राप्त होती है ।

इस समाधि की तन्मयता से विशुद्ध आत्म-तत्त्व की अनुभूति होती है और उसके प्रभाव से दुःखदायक कर्मों का सर्वथा क्षय हो जाता है।

जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म है उसमे एकरूप हुआ जा सके, ताकि समस्त कर्मो को झटकने के लिये कोई नवीन प्रयत्न न करना पड़े। यह स्वरूपमयता ही परमात्म-ध्यान है।

इस प्रकार इस चौथे प्रकाश मे निश्चय से योग का स्वरूप और आत्मा मे ही विद्यमान ससार का अर्थात् राग, द्वेष और विषय-कषाय का विनाश किस प्रकार हो तथा आत्मा मे ही विद्यमान मोक्ष का अर्थात् पूर्ण ज्ञान एव आनन्दमय अवस्था का प्रबोध कैसा हो, उसके ठोस एव शृंखलाबद्ध उपायो का सुन्दर प्रतिपादन करके अन्त मे साधक को ध्यान-सिद्धि मे सहायक आसन के सम्बन्ध मे मार्ग-दर्शन दिया है।

आसन-जय

आसन की जय कहाँ और किस प्रकार की जाये, उसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि—आसन की जय कराने के लिये साधक को पवित्र तीर्थ-स्थानो, कल्याणक क्षेत्रो तथा तन-मन की स्वस्थता बनी रहे ऐसे शान्त एव एकान्त स्थानो का आश्रय लेना चाहिये।

देह को साधना के लिये सुयोग्य बनाना आसन का उद्देश्य है।

आसनो के अभ्यास से देह स्वस्थ एव पुष्प के समान स्वच्छ बन जाती है, स्फूर्ति बनी रहती है, सुस्ती उड जाती है, प्रत्येक नस-नस मे रक्त का प्रवाह तालबद्ध प्रवाहित होता है और स्व-पर कल्याणकारी जीवन की क्षुधा तीव्र बनती है।

सुखपूर्वक बैठा जा सके ऐसा कोई भी आसन—पर्यंकासन, पद्मासन, अर्द्ध पद्मासन अथवा कायोत्सर्ग आसन ग्रहण करके, नासिका के अग्रस्थान पर दोनो दृष्टि स्थापित करके, ऊपर-नीचे के दाँतो का

परस्पर स्पर्श न हो उस प्रकार से दाँत रखकर (दाँतो से दाँतो का स्पर्श होने से मन स्थिर नही रहता) प्रसन्न मुद्रा से पूर्व अथवा उत्तर दिशा की ओर मुह रखकर, मेरु-दण्ड सीधा रहे उस प्रकार से सीधे बैठकर, अप्रमत्त/सावधान होकर ध्याता को ध्यान करने के लिये उद्यम करना चाहिये । यह विधि प्राथमिक (प्रारम्भिक) ध्यानाभ्यासियो के लिये है ।

जैन आगमो मे ध्यान के लिये समस्त क्षेत्र एव समस्त काल उपयोगी बताये गये है ।

तीर्थभूमि, गहन गुफा अथवा जगल, ग्राम आदि कोई भी स्थान हो और दिन अथवा रात्रि का कोई भी समय हो, वहाँ उस समय विशुद्ध ध्यान के बल से समस्त कर्मों का क्षय करके केवल ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है । अतः देश-काल आदि का कोई निश्चित नियम नही है । जहाँ और जब साधक का चित्त एकाग्र रहे वह क्षेत्र, वह अवस्था और वह समय ध्यान के लिये योग्य है ।

पाँचवा और छठा प्रकाश :—

प्राणायाम—योगशास्त्र के पाँचवे और छठे प्रकाश मे प्राणायाम के स्वरूप का विस्तृत वर्णन किया गया है तथा उसके अनेक प्रकारो का वर्णन करके उनसे होने वाले बाह्य लाभ आदि को स्पष्ट किया गया है ।

छठे प्रकाश मे प्राणायाम का निषेध करते हुए स्पष्ट किया गया है कि—'मुमुक्षु साधको का प्राणवायु के निग्रह से कदर्थना प्राप्त मन स्वस्थ नही बनता, क्योकि प्राणवायु का निग्रह करने से काया को कष्ट होता है जिससे चित्त चचल बनता है ।

प्राणायाम की प्रक्रिया मे प्राणायाम को भीतर खीचकर स्थिर करने मे तथा उसे बाहर निकालने मे परिश्रम पडता है, जिससे चित्त के सक्लेश मे वृद्धि होती है । यह स्थिति मोक्ष की साधना मे विघ्न रूप बनती है ।

इस सन्दर्भ मे श्री शुभचन्द्राचार्यजी ने भी 'ज्ञानार्णव' मे कहा है—"वायु-सचार का चातुर्य शरीर को सूक्ष्म-स्थूल (हल्का-भारी) आदि करने का साधन है। मुक्ति-कामी साधक के लिये यह विघ्न स्वरूप है। जो मुनि जितेन्द्रिय है, जिसके कषाय मन्द है, जो राग-रहित और प्रसन्नचित्त है, ऐसा साधक मुनि प्राणायाम से सुशोभित नही होता।"

इस विवेचन का तात्पर्य यह है कि जो मुनि राग-द्वेष और विषय-कषाय पर विजयी होने के लिये प्रारम्भ से ही प्रयत्नशील है, अर्थात् जिनका अन्त करण शुद्ध है वे प्राणायाम की प्रक्रिया के बिना भी अपने मन को सरलता से विषयो मे से खीचकर सीधा प्रत्याहार कर सकते हैं और इस प्रकार अपने मन को तत्त्व-चिन्तन अथवा शुद्ध परमात्म-ध्यान मे उत्तम प्रकार से लगा सकते है।

वास्तविक बात तो यह है कि प्राणायाम से शरीर को कष्ट होता है। सुयोग्य, ज्ञानी गुरु के मार्ग-दर्शन के अनुसार, नियमानुसार यदि प्राणायाम नही किया जाये तो उससे अनेक रोग एव मानसिक असन्तुलन उत्पन्न होने की पूर्ण सम्भावना है। इस कारण ही जिनागमो मे प्राणायाम का निषेध किया गया है।

पूज्य हरिभद्रसूरिजी महाराज ने 'योग-दृष्टि-समुच्चय' मे चौथी दीप्रा दृष्टि मे भाव-प्राणायाम का विधान किया है और वहाँ उन्होने बहिरात्मभाव का रेचक, अन्तरात्मभाव का पूरक और परमात्म-भाव की स्थिरता का कुम्भक बताया है। इससे ज्ञात होता है कि जिसका मन शुद्ध है, उसे रेचक, कुम्भक आदि द्रव्य-प्राणायाम की आवश्यकता नही रहती है।

प्रत्याहार—ध्यान का मुख्य आधार मन है। जब तक मन विविध विषयो मे बिखरा हुआ होता है तब तक वह एकाग्र नही हो सकता। मन के लिये खाद्य की पूर्ति इन्द्रियाँ करती है। इन्द्रियो द्वारा प्राप्त होने वाली अनुकूल स्पर्श आदि की विषय सामग्री के प्रति आसक्त मन शुभ ध्यान मे स्थिर नही हो सकता।

प्रत्याहार मे मन को इन्द्रियो के विपयो मे से पुन खीच लाना होता है। मन को इन्द्रियो मे से पुन खीच लाने के विविध उपाय हैं। उनमे से एक उपाय यह भी है कि—हमारे घर पर जब कोई अवसर होता है तब हम अपने सम्बन्धियो को भाव पूर्वक पधारने का समाचार भेजकर बुलाते है। उस प्रकार से प्रभु-भक्ति मे सम्मिलित होने के लिये हमे यत्र-तत्र स्थापित मन को वहाँ से पुनः खीचकर समस्त प्राणो के साथ एक आत्मा अथवा परमात्मा मे लगाना चाहिये।

विषयो की विनश्वरता और कपायो की कटुता आदि के चिन्तन से प्रत्याहार करने मे सफलता प्राप्त होती है, परन्तु उसे स्थायी बनाने के लिये तो गुण-निधि परमात्मा के समान आत्मा के अचिन्त्य सामर्थ्य का अधिकाधिक ज्ञान एव भान ही सर्वथा कारगर सिद्ध होता है।

सुई मे धागा तब ही पिरोया जा सकता है जब उसका अग्र-भाग नुकीला होता है। उसी प्रकार से मन को आत्मा अथवा धर्म-ध्यान मे तब ही लगाया जा सकता है जब वह अन्य समस्त स्थानो से हटकर एकाग्र बनता है।

इस प्रकार प्रत्याहार से स्थिर बना मन समस्त उपाधियाँ अर्थात् राग-द्वेष रूपी विकल्पो से रहित समता प्राप्त करके आत्मा मे ही लीन हो जाता है।

धारणा—प्रत्याहार मे मन को इन्द्रियो के विपयो से खीचकर उसे ध्यान योग्य किसी वस्तु से जोडना वह धारणा है।

अन्य समस्त विषयो से मन को हटाकर एक विषय मे लगाना ही धारणा का तात्पर्य है।

ध्यान-सिद्धि के लिये धारणा आवश्यक है।

धारणा का अभ्यास करने के लिये किसी एक वस्तु, एक स्थान अथवा एक विषय मे मन को प्रस्थापित करना चाहिये।

नाभि, हृदय, नाक का अग्रभाग, ललाट, नेत्रो की भौं, तालू, नेत्र, मुह, कान और सिर ध्यान करने के दस स्थान हैं। इनमे से किसी एक स्थान पर मन को स्थिर करने से योगी को स्व-सवेदन-प्रतीति हो, ऐसे अनेक अनुभव होते है, जो योगी की विशुद्ध भूमिका के सूचक है।

पिण्डस्थ ध्यान को सिद्ध करने के लिये पार्थिवी आदि धारणाओ का वर्णन सातवे प्रकाश मे किया गया है।

सातवाँ प्रकाशः—

इस प्रकाश मे ध्याता एव ध्येय का स्वरूप तथा ध्यान का फल स्पष्ट किया गया है। ध्यान के अभ्यासी को इस सब का ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है, क्योकि यह ध्यान की कारण– सामग्री है। उसके ज्ञान के बिना ध्यान रूपी कार्य की सिद्धि नही हो सकती।

ध्यान करने वाला ध्याता कैसा होना चाहिये, उसका परिचय देने के लिये सर्व प्रथम उसके उत्तम कोटि के गुण स्पष्ट किये गये है, जो निम्नलिखित है—

सयम की दृढता, समता, स्वरूप-रमणता, सहनशीलता, योगामृत को तीव्र पिपासा, चित्त की प्रसन्नता, निर्लिप्तता, तीव्र सवेग एव वैराग्य, निष्प्रकम्पता, निःसगता आदि गुणो वाला ध्याता प्रशसनीय होता है।

ध्येय एवं धारणा का स्वरूप

ध्यान करने योग्य पदार्थ को अर्थात् ध्यान के आलम्बन को 'ध्येय' कहते है। उक्त ध्येय के चार प्रमुख आलम्बनो का वर्णन ग्रन्थ-कर्त्ता महर्षि ने इस प्रकाश मे किया है, जिनके नाम निम्नलिखित हैः—(१) पिण्डस्थ, (२) पदस्थ, (३) रूपस्थ, (४) रूपातीत।

प्रथम पिण्डस्थ ध्येय को सिद्ध करने के लिये पार्थिवी, आग्नेयी, मारुती, वारुणी और तत्त्वभू—ये पाँच धारणाएँ बताई गई है।

पिण्ड अर्थात् शरीर, उसमे रहने वाला पिण्डस्थ, उसका ध्यान पिण्डस्थ ध्यान।

हमारा शरीर पच भूतों से निर्मित है, जिसमे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—पाँच भूत तथा आत्मा है।

सर्व प्रथम पाँच भूत सम्बन्धी स्थूल धारणाएँ बताई गई हैं; क्योकि उनके साथ दीर्घ काल का परिचय है। उनके माध्यम से मन को आत्मा मे स्थिर करने में सरलता हो, उसके लिये पृथ्वी, जल आदि के भिन्न-भिन्न आकारो के अनुसार मन के साथ आत्मा के उपयोग का परिणाम प्राप्त करने का अभ्यास इन धारणाओ के द्वारा होता है।

इस प्रकार मन स्थिर होने से जो साध्य पिण्ड में आत्मा है, वह पिण्डस्थ का ध्यान बताया गया है।

पिण्डस्थ धारणा का मुख्य उद्देश्य—पिण्ड अर्थात् शरीर और उसमे स्थित्त आत्मा ही परमात्मा है—उसका उस रूप मे ध्यान करना है। इस तथ्य की स्पष्टता पाँचवी 'तत्त्वभू' धारणा मे की गई है।

(१) पार्थिवी धारणा—

तिर्च्छा लोक जितने एक क्षीर-सागर की कल्पना करो, उसमें जम्बूद्वीप के प्रमाण के स्वर्ण के समान एक हजार पखुडियो वाले कमल की कल्पना करो, उक्त कमल के केसरो के मध्य में चमकती पीली कान्ति युक्त मेरु पर्वत के समान कर्णिका की कल्पना करो। उस पर श्वेत सिंहासन पर आसीन, कर्मो का उन्मूलन करने के लिये उद्यत बनी अपनी आत्मा का चिन्तन करना पार्थिवी धारणा है।

अशुभ चिन्तन से अशुभ कर्म का बन्धन होता है—यह तथ्य हम स्वीकार करते है। उसी प्रकार से शुभ चिन्तन से शुभ फल-प्रद कर्म का बन्धन होने का तथ्य भी हमे स्वीकार करना चाहिये।

पार्थिवी आदि धारणाओ के अभ्यास के समय जो उत्तम कल्पनाएँ की जाती है, उसमे आत्मा का उपयोग तदाकार रूप धारण करता है। अत कल्पना मिटकर यह कल्पना वास्तविक रूप धारण करती है। उसमे शुद्ध आत्म-स्वरूप को प्रकट करने की धारणा होने से उसका (कल्पना का) फल कर्म-निर्जरा के रूप मे अवश्य प्राप्त होता है।

पार्थिवी धारणा के अभ्यस्त होने के पश्चात् आग्नेयी धारणा का अभ्यास करना चाहिये। अगली धारणाओ मे भी यही क्रम ध्यान मे रखना चाहिये। जिस समय हम जिस धारणा का चिन्तन कर रहे हो, उस समय उस धारणा का सम्पूर्ण दृश्य हमारे मन के समक्ष उपस्थित हो जाये तो उस धारणा के हम अभ्यस्त हो गये, यह माना जायेगा।

(२) आग्नेयी धारणा—

नाभि मण्डल मे सोलह पखुडियाँ वाले कमल की कल्पना करे। उसके प्रत्येक पत्र पर क्रमश सोलह स्वरो एव कर्णिका मे देदीप्यमान 'अर्हं' की स्थापना करे। उसमे रेफ, बिन्दु और कलायुक्त जो 'ह' अक्षर (वर्ण) है, उसकी रेफ मे से शनै-शनै निकलती धूम-शिखा की कल्पना करे। तत्पश्चात् उसमे से निकलती अग्नि की चिनगारियो एव ज्वालाओ की कल्पना करे। फिर हृदय मे अष्ट दल युक्त एक कमल की कल्पना करे। यह कमल नाभि-कमल मे स्थित सोलह पत्र युक्त कमल से तनिक दूर अधोमुख ढग से रखे। उसकी प्रत्येक पखुडी पर एक-एक कर्म—इस तरह आठ कर्मो का न्यास करे। तत्पश्चात् 'अर्हं' की रेफ मे से निकलती ज्वालाएँ इस अष्ट-दल-युक्त कमल के साथ आठो कर्मो को जला डालती हैं—यह कल्पना करे।

तत्पश्चात् देह से बाहर जलते हुए एक त्रिभुजाकार अग्नि-कुण्ड की कल्पना करे। उक्त अग्नि-कुण्ड के एक ओर तेजस्वी स्वस्तिक और दूसरी ओर अग्नि-बीज 'ह्' की स्थापना करे। फिर देह से जो सर्वथा भिन्न है, उस आत्मा की अनुभूति करने के लिये उस अग्नि-कुण्ड मे अपनी देह को जलाकर भस्म कर और आत्मा दूर रहकर जलती हुई देह को देख रही हो—यह कल्पना करे। तत्पश्चात् देह, अष्ट एव सोलह पखुडियो वाले कमल और निकलती हुई अग्नि की ज्वालाएँ आदि जलकर राख का एक ढेर हो गया और सब कुछ शान्त हो गया—यह कल्पना करना 'आग्नेयी धारणा' है।

(३) मारुती धारणा—

तीन लोक मे व्याप्त होने वाली, विशाल पहाडो को विचलित करने वाली, समुद्रो को डाँवाडोल करने वाली प्रचण्ड वायु की कल्पना करे, जिसके प्रबल झटके मे राख का ढेर तत्काल उड गया और फिर वायु पूर्णत शान्त हो गया—यह कल्पना करना 'मारुती धारणा' है।

(४) वारुणी धारणा—

जल की धारणा मे सर्व प्रथम आकाश की कल्पना करे। आकाश बादलो की घटाओ से घिरा हुआ है और उसमे से अमृत रूपी जल की वृष्टि हो रही है—यह कल्पना करे। फिर अर्द्ध चन्द्राकार सुन्दर एव वरुण बीज 'व' से चमकते वरुण मण्डल का चिन्तन करे। तत्पश्चात् इस वरुण मण्डल मे से अमृत की वृष्टि होती है और समस्त आकाश उससे भीग जाता है—यह कल्पना करे और अन्त मे देह आदि के दहन से बनी राख उडने मे गगन मलिन हो गया था जो इस अमृत-वृष्टि से एकदम स्वच्छ, निर्मल हो गया। इस प्रकार स्वच्छ, निर्मल आकाश की कल्पना करना 'वारुणी धारणा है।

(५) तत्त्व भू धारणा—

सप्त धातुओ से रहित, पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान कान्ति युक्त अपनी आत्मा की सर्वज्ञ तुल्य कल्पना करे। फिर मै एक

सिहासन पर आसीन हूँ। तीर्थंकर परमात्मा के जो ३४ अतिशय हैं, वे सब स्व तथा पर से प्रकट होते हुए सुशोभित है। मैंने समस्त कर्मो का क्षय कर दिया है, मगलमय, महिमावत मै निराकार, शुद्ध आत्मा हूँ, इस प्रकार देह के भीतर कल्पना करे।

इस चिन्तन के सतत अभ्यास से देह-स्वरूप का भान भूलकर शुद्ध आत्म-स्वरूप का अनुभव करना 'तत्त्वभू' अर्थात् 'तत्त्वस्वरूप' धारणा है।

इस प्रकार पिण्डस्थ ध्यान के दीर्घ काल के दृढ अभ्यास से योगी मोक्ष सुख का भोक्ता बनता है, अथवा शुद्ध स्वात्म स्वरूप को प्राप्त करता है।

इन धारणाओ अर्थात् पिण्डस्थ ध्यान के प्रभाव से दुष्ट विद्या अथवा दुष्ट मत्र की शक्ति पराभव नही करा सकती; भूत, पिशाच, शाकिनी आदि के उपद्रव नही होते, सिह आदि हिंसक पशु स्तम्भित हो जाते है और क्रमशः शिव-सुख की प्राप्ति होती है।

आठवां प्रकाशः—

(१) ध्यान : पदस्थ ध्यान—

वर्ण, अक्षर, बीज, मत्र, विद्या आदि जो कुछ भी गणधर आदि भगवतो ने श्रुत-सिद्धान्त मे से ध्येय के रूप मे उद्धृत किया हो वह और अनादि सिद्ध मातृका भी 'पद' कहलाता है।

ऐसे पवित्र पदो का आलम्बन लेकर जो ध्यान किया जाये उसे 'पदस्थ ध्यान' कहते है।

प्रस्तुत प्रकाश मे अनेक मत्र-पदो के ध्यान की प्रक्रिया बताई गई है, जिनमे सर्व प्रथम मातृका-पद की ध्यान-प्रक्रिया का निर्देश है।

मातृका ध्यान—

'अ' से 'ह' तक के ४९ अक्षर अनादि सिद्ध पवित्र मत्र पद है। ये अक्षर बुद्धिमान मनुष्यो के ज्ञानमय तेज की माता की तरह

सुरक्षा, परिपालन एव विशोधन करने वाले होने से 'मातृका' कहलाते हैं।

समस्त जिनेश्वर परमात्मा के नामो, समस्त स्तोत्रो, समस्त सिद्धान्तो, मन्त्र-शास्त्रो, योग तथा ध्यान के ग्रन्थो आदि की रचना 'मातृका' द्वारा ही होती है। मातृका ज्ञान-शक्ति-स्वरूप होने से उसे 'विश्व-विबोध-विधायिनी' अर्थात् समस्त पदार्थो का बोध कराने वाली कहा जाता है।

मन्त्र-साधना अथवा ध्यान-योग की साधना करने से पूर्व प्रारम्भ मे मातृका का ध्यान अथवा मातृका का न्यास शरीर के विविध अगो पर करने का विशेष विधान है।

प्रस्तुत मे तीन कमलों द्वारा उसके ध्यान की एक अद्भुत एव अनुभूत प्रक्रिया प्रदर्शित की गई है, जो इस प्रकार है.—

(१) नाभि मे सोलह पखुडियाँ युक्त कमल की भावना करे। फिर ये अक्षर उन पखुडियो मे प्रदक्षिणा करते हुए कल्पना करे; अर्थात् प्रथम पखुडी पर प्रथम 'अ' को स्थिरता पूर्वक देखे। तत्पश्चात् दूसरी पखुडी पर 'आ' देखे। इस प्रकार क्रमश. सोलहो स्वरो को स्थापित करके उन्हे मानस दृष्टि से एकाग्रता पूर्वक देखे।

(२) फिर हृदय के भाग मे चौबीस पखुडियो के कमल की कल्पना करें और उसकी प्रत्येक पंखुडी मे क्रमशः 'क्' आदि २४ व्यजन का न्यास करें तथा कर्णिका मे २५ वा व्यजन 'म्' स्थापित करे। इन समस्त व्यजनो को एकाग्रता से निहारें।

(३) तत्पश्चात् मुह पर आठ पखुडी युक्त तीसरे कमल की कल्पना करें। उसमे शेष 'य' आदि आठ व्यजन का न्यास और वह सोलह पखुडियाँ युक्त कमल की तरह एक-एक पखुडी पर घूमता रहता है—यह कल्पना करें।

इस प्रकार अक्षरो का ध्यान करना 'मातृका ध्यान' है। इस ध्यान के प्रभाव से साधक श्रुतज्ञान का पारगामी बनता है और भूत-भविष्य का भी ज्ञाता बनता है।

इस पदस्थ ध्यान के एक अन्य प्रकार मे मंत्रराज 'अर्हं' के ध्यान की जो प्रक्रिया बताई गई है वह अत्यन्त रहस्यमय एव सर्वोत्तम योग-प्रक्रिया है। यदि यह प्रक्रिया यथाविधि की जाये तो आराधक समस्त पापो का नाश करके परम मगलमय परमात्म-भाव को प्राप्त कर सकता है।

यह ध्यान प्रक्रिया अच्छी तरह समझकर की जा सके, उसके लिये उसकी क्रमिक सीढियो के यथार्थ ज्ञान की आवश्यकता है। उक्त ज्ञान के लिये यहाँ नौ सीढियो की एक सोपान श्रेणी के द्वारा उसका सक्षिप्त वर्णन किया जाता है।

प्राथमिक धारणा स्थान

इस 'अर्हं' की ध्यान प्रक्रिया मे प्राथमिक धारणा के लिये जो स्थान इष्ट है, उसका नाम 'मूलाधार स्थान' है। यह प्रदेश नाभि से पाँच अगुली नीचे और लिगमूल से दो अगुली ऊपर है। उसके मध्य मे कन्द नामक जो चक्रस्थान है, उसके नीचे यह मूलाधार स्थान है। इस मूलाधार स्थान से ही सुषुम्ना (नाडी) प्रारम्भ होती है। वहाँ सुषुम्ना का मुँह है। वहाँ से यह नाडी नाभिकद, हृदय-घटिका और भ्रूमध्य मे से होकर ब्रह्मरध्र तक जाती है।

ग्रन्थियों का स्थान

लिग-मूल से दो अगुली ऊपर तथा नाभि से पाँच अगुली नीचे नाभि-कन्द नामक शक्र-स्थान है। वहाँ नाभि-कन्द है।

नाभि से बारह अगुली ऊपर तथा कठ से छः अगुली नीचे जो प्रदेश है वहाँ हृदय-ग्रन्थि है। तत्पश्चात् तालु-स्थान के पास घटिका-ग्रन्थि है और भ्रूमध्य स्थान मे बिन्दु-ग्रन्थि है। भ्रूमध्य से ग्यारह अगुली दूर ब्रह्मरध्र है।

इस ग्यारह अगुली के प्रदेश मे क्रमानुसार अर्द्धचन्द्र, निरोधिका, नाद, नादात, शक्ति, व्यापिनी, समना और उन्मना ये आठ ग्रन्थियाँ है।

सुषुम्ना का अन्त ब्रह्मरध्र मे होता है। उपर्युक्त समस्त ग्रन्थियाँ सुषुम्ना मे ग्रथित है। उन्मना ग्रन्थि अन्तिम है। उसका भेदन करने पर पर-तत्त्व (परमात्म-भाव) को प्राप्ति होती है।

अर्हं ध्यान प्रक्रिया के नौ सोपान

१. प्राथमिक विधि :

(१) इस प्रक्रिया के विषय का विवरण अच्छी तरह मन मे धारण कर लेना चाहिये।

(२) ध्यान मे बैठने से पूर्व देह की स्वस्थता तथा मन की प्रसन्नता आवश्यक है।

(३) पद्मासन आदि किसी भी आसन पर बैठना चाहिये।

(४) देह को समुन्नत, सीधा और स्थिर रखना चाहिये।

(५) पूर्व दिशा की ओर मुँह रखे।

(६) दोनो होठ बन्द रखे।

(७) दाँतो का परस्पर स्पर्श न होने दे।

(८) इडा नाडी के द्वारा रेचन करे और भावना रखे कि राग रूपी रेचक वायु का ❀रेचन हो रहा है।

(९) तत्पश्चात् पूरक करे और फिर कुम्भक करके पिंगला नाडी द्वारा रेचन करें और भावना रखे कि द्वेष रूपी काली वायु का रेचन हो रहा है।

(१०) फिर इडा नाडी के द्वारा पूरक करे और भावना रखे कि समता रूपी श्वेत वायु का नाभि मे सस्थापन हो रहा है।

(११) तत्पश्चात् कुम्भक करे।

❀ विशेष—यहा से प्रारम्भ होने वाली रेचक आदि प्राणायाम की प्रक्रिया जो व्यक्ति न कर सकें, वे उनकें अतिरिक्त प्रक्रिया करें।

(१२) फिर सुषुम्ना नाड़ी मूलाधार से मूर्ध-स्थान की ओर प्रवाहित हो रही है, यह कल्पना करे ।

२. मध्यमार्ग विधि

(१) मूलाधार स्थान मे मन को स्थिर कर, वायु की गति पर विजयी होकर उसे मध्य मार्ग मे प्रविष्ट करे ।

इस प्रकार वायु की गति का मन के साथ सुषुम्ना नाड़ी मे जो प्रवेश होता है उसे 'मध्य-मार्ग-प्रवेश' कहते हैं ।

योग प्रक्रियाओ मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया सुषुम्ना नाड़ी की प्राप्ति है । उसकी प्राप्ति के पश्चात् ही वास्तविक एकाग्रता आती है ।

(२) तत्पश्चात् उसी कुम्भक मे बाह्य-अभ्यन्तर परिकर सहित 'अर्हं' का स्मरण तथा एकाग्र अवलोकन करे ।

३. बाह्य परिकर स्मरण :

(१) पूर्वोक्त मूलाधार स्थान मे आठ पखुडियां युक्त कमल की धारणा करें ।

(२) उक्त कमल की केसरा मे स्वरमाला स्थापित करे ।

(३) उक्त कमल की पखुड़ियो को आठ आकार आदि वर्णों से सुशोभित करे अर्थात् उनकी स्थापना करें ।

(४) उन समस्त पखुड़ियाँ के आँतरे (राधि स्थान) सिद्ध स्तुति अर्थात् 'ह्रँ' अक्षर से विराजमान करे ।

(५) उन समस्त पखुडियो के अग्र भागो को प्रणव—ॐकार और माया—ह्रींकार से पवित्र करे ।

४. अभ्यन्तर परिकर सहित अर्हं का स्मरण :

(१) निर्दिष्ट कमल की कर्णिका के मध्य भाग में 'ह्' की कल्पना करें।

(२) उक्त 'ह्' को 'अ' से पुरस्कृत करें अर्थात् 'ह्' के आगे 'अ' की कल्पना करे।

(३)※ उक्त 'ह्' को रेफ से आक्रान्त करें अर्थात् 'ह्' पर रेफ की कल्पना करें।

(४)※ 'ह्' को कला एवं बिन्दु से युक्त करे।

(५)※ इस प्रकार समस्त अवयव से सम्पूर्ण 'अर्हं' को हिम अथवा अमृत तुल्य निर्मल होने की कल्पना करें।

(६) यह अर्हं पावनकारी है तथा प्राण शक्ति युक्त है। इसके द्वारा द्वादशान्त संस्पर्श करना है, यह लक्ष्य निर्धारित करे।

५. एकाग्र अवलोकन :

इस अष्ट-दल-कमल की कर्णिका में स्थित 'अर्हं' का अत्यन्त स्थिर कुम्भक वृत्ति से क्षण भर के लिये एकाग्रता पूर्वक अवलोकन करे।

※ क्रमाक ३, ४, ५, में वर्णित चिन्तन इस प्रकार करें —
पूर्व दिशा की प्रथम पखुडी के अग्रभाग मे 'ॐ ह्रीं' की कल्पना करें। पखुडी मे घूमते हुए १६ स्वरो की कल्पना करें तथा प्रथम एव द्वितीय पखुडियों की संधि मे सिद्ध स्तुति अर्थात् 'हं' की कल्पना करे। तत्पश्चात् द्वितीय पखुडी के अग्र भाग मे 'ॐ ह्रीं', पंखुडी मे घूमते हुए 'क' वर्ग के पाँच वर्णों और द्वितीय एव तृतीय पखुडियाँ की सधि मे 'हं' की कल्पना करें। इस प्रकार क्रमशः समस्त पखुडियो मे शेष 'च' आदि वर्गों की कल्पना करें। अन्त मे आठवी एवं प्रथम पंखुडी की सन्धि मे 'हं' की कल्पना करे।

६. उत्थापन एवं ग्रन्थि-विदारण :

कुम्भक वृत्ति से एकाग्र अवलोकन पूर्ण होने पर निम्नलिखित प्रक्रिया करें:—

(१) रेचक करें।

(२) पूरक करके कुम्भक करें।❀

(३) पूर्व निर्दिष्ट हिम अथवा अमृत तुल्य 'अर्हं' मे मन स्थिर करे।

(४) सुषुम्ना नाडी मूलाधार से ब्रह्मरंध्र तक प्रवाहित होती है, यह कल्पना करे।

तत्पश्चात् ऊर्ध्व रेचक से नाभिकन्द स्थान मे मन्त्रराज 'अर्हं' की 'अ' कला का ह्रस्व उच्चार करे। उस समय ऐसी भावना रखे कि उस उच्चार से मूलाधार स्थान मे से सुसूक्ष्म ध्वनि स्वरूप नाद प्रबुद्ध होकर मध्यमार्ग के द्वारा प्राण शक्ति सहित ऊपर जाता है और उसके साथ 'अर्हं' भी मध्य मार्ग से ऊपर जाता है। इस प्रकार नाद एव प्राण शक्ति सहित मंत्रराज 'अर्हं' का उत्थापन करे। तत्पश्चात् यह भावना रखे कि नाभिकन्द मे किये जाने वाले ह्रस्व 'अ' के उच्चार से मूलाधार मे से उत्थित सुसूक्ष्म ध्वनि स्वरूप नाद नाभिकन्द ग्रन्थि को भेदता है।

फिर हृदय मे मन्त्रराज अर्हं की ह कला का दीर्घ उच्चार करे, जिससे नाभिकन्द से हृदय तक आया हुआ सुसूक्ष्म ध्वनि स्वरूप नाद हृदय ग्रन्थि को भेदता है, ऐसी भावना करे।

❀ ऐसे कुम्भक से अर्हं मे मन की स्थिरता से तथा सुषुम्ना नाडी के चिन्तन से ग्रन्थियाँ ऊर्ध्व-मुख होती हैं। इस एक ही कुम्भक मे उन्मना ग्रन्थि के भेदन तक की प्रक्रिया करनी है। जो लोग लम्बा कुम्भक न कर सकें वे केवल विचिन्तन के रूप मे भी यह क्रिया कर सकते हैं।

तत्पश्चात् घटिका स्थान में मंत्रराज की 'म' कला का प्लुत उच्चार करे, जिससे हृदय से घटिका स्थान मे प्राप्त नाद घटिका ग्रन्थि को भेदता है, यह भावना करे।

फिर भ्रूमध्य में मन्त्रराज के विन्दु अंश के अनुस्वरात्मक ऊच्चारण से सुसूक्ष्म ध्वनि स्वरूप नाद घटिका से भ्रूमध्य तक आता है और वहाँ बिन्दु-ग्रन्थि को भेदता है—यह भावना करें।

तत्पश्चात् ललाटाग्र से ब्रह्मरध्र तक मन्त्रराज के नाद अंश के उच्चारण से सुसूक्ष्म ध्वनि स्वरूप नाद क्रमशः ब्रह्मरध्र तक जाता है और उस प्रदेश मे स्थित अर्द्धचन्द्र, निरोधिका, नाद, नादांत, शक्ति, व्यापिनी, समना एव उन्मना ग्रन्थि को क्रमशः भेदन करता है तथा उन्मना ग्रन्थि के भेदन के पश्चात् आत्मा परतत्त्व (परमात्म पद) को प्राप्त करती है—यह भावना करें।

इस प्रकार ब्रह्मरंध्र मे प्राप्त पर-तत्त्व मे मन को सुस्थिर रखे।

इस प्रक्रिया एवं भावना के अनुसार ब्रह्मरध्र मे पहुँच कर समय की अनुकूलता से अर्हं का मानसिक स्मरण किया जा सकता है। इस प्रकार नियमित स्मरण करने से ध्यान-जनित आनन्द, सुख आदि की अनुभूति होती है।

७. अमृत-प्लावन—विचिन्तन

तत्पश्चात् अमृत-प्लावन का विचिन्तन करना होता है। वास्तव मे तो प्रत्येक ग्रन्थि के भेदन के समय साधक को भिन्न-भिन्न सात्त्विक भावो का अनुभव होता है।

प्रस्तुत भाग मे अमृत स्राव स्वरूप एक महत्त्वपूर्ण अनुभव का ग्रन्थकर्त्ता ने निर्देश दिया है।

मन्त्रराज अर्हं की बिन्दु-कला मे से दूध के समान श्वेत अमृत झरता है। इस अमृत-वृष्टि का अनुभव सहस्रार मे होता है। इससे साधक के कर्म-मल धुल जाते है। अमृत-प्लावन का विचिन्तन इस प्रकार है:—

साधक प्रथम मूलाधार स्थान मे स्थित पूर्व निर्दिष्ट अष्ट-दल-कमल की कर्णिका में आत्मा का न्यास करे।

फिर द्वादशान्त मे स्थित बिन्दु एवं तप्त कला मे से झरती दूध के समान श्वेत ऊर्मियो के द्वारा अपनी आत्मा प्लावित हो रही है, यह कल्पना करें।

फिर झरते हुए दूध के समान उस अमृत से मूलाधार स्थान मे एक सरोवर हो जाता है और उसमे से सोलह पखुडिया युक्त एक कमल बाहर आता है। उस कमल की नाभि-कन्द स्थान में कल्पना करे। उस की कर्णिका मे आत्मा का न्यास करे।

उस कमल के सोलह दलों मे क्रमशः रोहिणी आदि १६ विद्या-देवियों का न्यास करें।

इन विद्या-देवियो के हाथो मे ग्रहण किये हुए स्फटिक रत्नमय कलशों मे से झरती क्षीर के समान श्वेत अमृत धाराओ से विद्या-देवी स्वय को स्नान करा रही हो और स्वय उस अमृत से प्लावित हो रहा हो—इस प्रकार चिरकाल तक कल्पना करें।

८. एकता वेदन

(१) पूर्वोक्त सम्पूर्ण प्रक्रिया सिद्ध करके मूर्धस्थान—सहस्रार में (सहस्रदल कमल मे) इस मंत्रराज अर्हं के अभिधेय परम परमेष्ठि श्री अरिहत की शुद्ध स्फटिक के समान निर्मल कल्पना करे।

(२) उन अरिहन्त परमात्मा के ध्यान के आवेश मे तन्मयता से ध्याता सोऽहं, सोऽहं का पुन -पुन. आलाप करे। उस समय आत्मा की परमात्मा के साथ एकता का नि.शक रूप से अनुभव करे।

९. पर-तत्त्व समापत्ति

तत्पश्चात् ध्याता अपना अरिहन्त से अभिन्न ध्यान करे और स्वय राग-रहित, द्वेष-रहित, मोह-रहित, सर्वदर्शी, देव-पूजित, समवसरण मे बैठकर धर्म-देशना देते हुए अरिहन्त स्वरूप है—यह ध्यान करे।

इस प्रकार ध्यान करता हुआ ध्याता पापरहित होकर परमात्मता को प्राप्त करता है।

उक्त अभिन्न ध्यान को परतत्त्व समापत्ति कहते है। यह समाधि का एक सर्वोत्तम प्रकार है।

इस प्रकार मंत्रराज के समालम्बन के द्वारा परतत्त्व समापत्ति की इस प्रक्रिया का 'योगशास्त्र' के अतिरिक्त अन्य कही भी निर्देश दृष्टिगोचर नही हुआ।❀

पदस्थ ध्यान को सूक्ष्म बनाने के लिये मत्रराज 'अर्हं' की एक अन्य ध्यान प्रक्रिया भी इस प्रकाश मे बताई गई है, जिससे अनक्षर, अनाहत एव परज्योति का ध्यान करने का निर्देश है।

जिज्ञासु साधकगण यदि इन दोनो प्रक्रियाओ का अनुभव करके, गुरु से उन्हे अच्छी तरह समझकर उनका निरन्तर अभ्यास करने का प्रयत्न करे तो वे ध्यान के अद्‌भुत रहस्य का अवश्य अनुभव कर सकते हैं।

'अर्हं' की ध्यान प्रक्रिया के पश्चात् प्रणव ॐकार के ध्यान की प्रक्रिया का निर्देश है और तत्पश्चात् नमस्कार महामत्र की ध्यान-प्रक्रिया भी बताई गई है, जो निम्नलिखित है —

हृदय मे आठ पखुडियाँ युक्त कमल की कल्पना करे। उसमे मध्य कर्णिका मे 'नमो अरिहताण' की कल्पना करे। फिर चारो दिशाओ मे क्रमशः 'नमो सिद्धाण', 'नमो आयरियाण', 'नमो उवज्झायाण' और 'नमो लोए सव्व साहूण' चारो पदो की स्थापना करके उनकी कल्पना करे। तत्पश्चात् चारो विदिशाओ मे चूलिका के चार पदो की स्थापना करके उनका क्रमशः चिन्तन करे।

❀ 'योगशास्त्र-अष्टम प्रकाश'

—प्रकाशक जैन साहित्य विकास मण्डल, बम्बई।

इस महामत्र के ध्यान से साधक तीनो लोको का पूज्य बनकर शिव-लक्ष्मी का वरण करता है।

इसके अतिरिक्त ह्रीँकार आदि मत्रों तथा विद्याओ की ध्यान-प्रक्रिया भी पदस्थ-ध्यान स्वरूप है।

इस पदस्थ-ध्यान का उपसहार करते हुए ग्रन्थकर्त्ता महर्षि बताते है कि—श्रुतसागर से उद्धृत एक-एक अक्षर अथवा पद का ध्यान भी विधि एव सम्मान पूर्वक करने से केवलज्ञान तथा मोक्ष-सुख का दाता बनता है।

जिसका चिन्तन करने से योगी वीतराग बन जाये वह ध्यान है। उसके अतिरिक्त अन्य समस्त केवल दिखावा है।

नौवाँ प्रकाश:—

इस प्रकाश मे रूपस्थ ध्यान का वर्णन है।

अष्ट महाप्रातिहार्य युक्त समवसरण मे बिराजमान, समस्त अतिशयो से सुशोभित, केवलज्ञान की ज्योति से देदीप्यमान ऐसे साक्षात्, सदेह अवस्था मे विचरण करते श्री तीर्थंकर परमात्मा का ध्यान तथा उनके अभाव मे उनकी शान्त, मनमोहक, निस्तद्र मूर्ति का निर्निमेष दृष्टि से ध्यान ही रूपस्थ ध्यान है।

ध्यान चाहे परमात्मा की अतिशय युक्त देह का हो अथवा उनकी प्रशान्त प्रतिमा का हो; वास्तव मे उन दोनो के पवित्र आलम्बन के द्वारा परमात्मा के पूर्ण, शुद्ध स्वरूप मे तन्मय होकर, अपनी आत्मा का भी वैसा ही स्वरूप है, उस स्वरूप मे उसे देखना, जानना और अनुभव करना; इस लक्ष्य से ही यह ध्यान करना है।

इस सन्दर्भ मे ग्रन्थकार महर्षि का कथन है कि—'वीतराग का चिन्तन करने से चिन्तक स्वय वीतराग बनकर कर्म से मुक्त हो जाता है और सरागी का आलम्बन ग्रहण करने से कामादि विकार प्रकट होते है तथा राग आदि की वृत्तियो मे वृद्धि होती है।' अन्त मे

मार्मिक शिक्षा देते हुए कहते है कि—'मन मे जिस प्रकार की भावना बनाई जाती है, उसी आकार मे मन अथवा आत्मा हो जाती है। अतः कौतूहल से भी कदापि असद्भावना अथवा असद्ध्यान को स्थान नही देना चाहिये। अशुभ भावना अथवा अशुभ ध्यान अपने नाश के लिये ही होता है।'

दसवां प्रकाशः—

इस प्रकाश मे रूपातीत ध्यान का वर्णन किया गया है।

चिदानन्दमय, निरजन, अमूर्त सिद्ध परमात्मा का ध्यान ही रूपातीत ध्यान है।

सिद्ध परमात्मा का ध्यान किसलिये ?

निरन्तर सिद्ध स्वरूप का ध्यान करने से योगी सिद्ध स्वरूप के के साथ तन्मय, तदाकार हो जाता है।

साधक आत्मा अन्य समस्त आलम्बन छोडकर इस प्रकार सिद्ध स्वरूप मे लीन हो जाता है कि ध्याता एव ध्यान दोनो का अभाव हो जाता है और ध्येय के साथ एकात्म हो जाता है, अर्थात् वह ध्येय स्वरूप बन जाता है, ध्येयाकार मे आ जाता है।

पिण्डस्थ आदि चार प्रकार के ध्यान की तरह ध्येय के भेद से धर्म-ध्यान के अन्य भी चार प्रकार है, जो निम्नलिखित है.— (१) आज्ञा विचय, (२) अपाय विचय, (३) विपाक विचय, (४) सस्थान विचय।

(१) आज्ञा विचय

आज्ञा विचय अर्थात् सर्वज्ञ सर्वदर्शी श्री जिनेश्वर परमात्मा की आज्ञा के त्रिकालाबाधित, सर्व श्रेयस्कर, नित्य मगलकारी, सर्व

सिद्धि प्रद स्वरूप का चिन्तन करना। इस स्वरूप का स्पष्ट एव पूर्वापरविरोध रहित निरूपण जिसमे है उन जिनागम प्रमुख शास्त्रो मे नि.शक होकर रमण करना 'आज्ञा विचय ध्यान' है।

(२) अपाय विचय—

राग, द्वेष, कषाय आदि से वर्तमान जीवन-प्रवाह दूषित होता है तथा भावी जीवन अनेक आपत्तियो से घिर जाता है। यह चिन्तन करना तथा उन रागादि का त्याग करने के लिये प्रयत्नशील होना—'अपाय विचय ध्यान' है।

(३) विपाक विचयः—

प्रतिक्षण उत्पन्न होने वाले शुभाशुभ कर्म के फल का चिन्तन करना; जैसे श्री अरिहन्त परमात्मा का परम ऐश्वर्य और नरक के जीवो का अति भयानक दुःख। ये दोनो प्रकृष्ट पुण्य एव पाप के फल के ही परिणाम है—इत्यादि चिन्तन करना 'विपाक विचय ध्यान' है।

(४) संस्थान विचयः—

यह लोक आदि-अन्त विहीन है। उसमे जो पदार्थ है वे उत्पत्ति, विनाश एवं ध्रौव्य स्वरूप है। इस प्रकार लोक के स्वरूप का चिन्तन करना 'सस्थान विचय ध्यान' है।

लोक मे विद्यमान अनेक प्रकार के द्रव्यो के अनन्त पर्यायो का सदा परिवर्तन होता रहता है—इत्यादि चिन्तन मे मग्न मन राग-द्वेषो से व्याकुल नही होता।

धर्म-ध्यान का फलः—

उपर्युक्त पिण्डस्थ आदि एव आज्ञा-विचयादि स्वरूप दोनों धर्म-ध्यान के प्रभाव से अत्यन्त वैराग्य-रस से प्रभावित व्यक्ति जो स्वय अनुभव कर सकते है वे इन्द्रियो के सुख को लाघने वाले

अतीन्द्रिय आत्मिक सुख का यहाँ पर ही अनुभव करते है; और देह छूटते ही स्वर्ग एव अपवर्ग का महान् फल प्राप्त करते है।

ग्यारहवां प्रकाश :—

समाधि योग

इस प्रकाश में शुक्ल ध्यान का वर्णन है जो समाधि स्वरूप है।

मोक्ष—शुद्ध आत्म-स्वरूप को प्रकट करने वाले साध्य को शीघ्र सिद्ध करने वाला शुक्ल ध्यान है। इसके निम्नलिखित चार भेद है.—

(१) पृथक्त्व वितर्क सविचार।

(२) एकत्व वितर्क अविचार।

(३) सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाती।

(४) व्युच्छिन्न क्रिया अपतिपाती।

इस शुक्ल ध्यान के मुख्य अधिकारी महान् सत्त्व-सम्पन्न, प्रथम संहनन वाले पूर्वधर महर्षि हैं। अल्प सत्त्व एव अल्प ज्ञान वाले साधकों के चित्त प्रबल विघ्नों के समक्ष निश्चल नही रहते, जिससे वे शुक्ल ध्यान के अधिकारी बन नही पाते। शुक्ल ध्यान के योग्य स्थिरता प्राप्त करने के लिये और उसे स्थिर रखने के लिये तदनुरूप विशिष्ट शारीरिक बल एव श्रुतज्ञान का बल अनिवार्य है, आवश्यक है।

शुक्ल ध्यान के चार प्रकारों का स्वरूप

(१) पृथक्त्व वितर्क सविचार

जिस ध्यान में एक द्रव्य से अन्य द्रव्य का, एक गुण से अन्य गुण का तथा एक पर्याय से अन्य पर्याय का चिन्तन होता है; उसे सपृथक्त्व कहते है।

एक अर्थ में से अन्य अर्थ में, एक शब्द में से अन्य शब्द में और एक योग में से अन्य योग मे सक्रमण होता हो, उसे 'सविचार' कहते है।

जिस ध्यान मे अन्तरग ध्वनिरूपी विचारात्मक 'वितर्क' होता है, जो अपने निर्मल आत्म-तत्त्व के अनुभव युक्त, अन्तरग भाव स्वरूप श्रुतज्ञान के आलम्बन से उत्पन्न होता है, उसे 'सवितर्क' कहते है।

शुक्ल ध्यान के प्रथम प्रकार मे उपर्युक्त पृथक्त्व, विचार एवं वितर्क तीनो होने से उसका नाम 'पृथक्त्व वितर्क सविचार' है।

(२) एकत्व वितर्क अविचार

जिस ध्यान में द्रव्य, गुण और पर्याय का परावर्तन न हो, परन्तु किसी एक द्रव्य, गुण अथवा पर्याय का ही चिन्तन हो तथा जिसमे अर्थ, शब्द और योग का भी सक्रमण न हो, परन्तु एक ही अर्थ, शब्द अथवा योग का आलम्बन हो, और अपनी अत्यन्त विशुद्ध आत्मा के भव रूपी भावश्रुत का जिसमे आलम्बन हो, उसे 'एकत्व वितर्क अविचार' ध्यान कहते है।

शुक्ल ध्यान के इस दूसरे प्रकार मे योगी को समरसी भाव की प्राप्ति होती है; क्योकि इस ध्यान मे साधक की आत्मा परमात्म-स्वरूप मे तल्लीन हो जाती है। वह ध्यान के द्वारा अपनी आत्मा को परमात्म स्वरूप मे अनुभव करता है।

शुक्ल ध्यान के प्रथम दो प्रकारो मे 'वितर्क' अर्थात् श्रुतज्ञान के उपयोग स्वरूप एक ही आलम्बन होने से दोनो मे 'वितर्क' की समानता होते हुए भी अन्य विषमता भी है कि प्रथम प्रकार मे 'पृथक्त्व' अर्थात् भेद है जब कि द्वितीय प्रकार मे 'एकत्व' अर्थात अभेद है।

इसी प्रकार से प्रथम प्रकार मे 'विचार' अर्थात् सक्रम है, अर्थात् अर्थ, व्यजन और मन-वचन-काया के योगो मे परस्पर सक्रमण है, जबकि दूसरे प्रकार मे 'विचार' अर्थात् सक्रम नही है।

(३) सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाती—

मोक्ष-प्राप्ति के निकटस्थ समय मे केवली भगवान् को शुक्ल ध्यान का यह तीसरा प्रकार होता है।

जब सर्वज्ञ आत्मा योग-निरोध के क्रम से अन्त मे सूक्ष्म शरीर योग का आश्रय लेकर शेष समस्त योगो का निरोध करती है तब यह ध्यान होता है। उस समय श्वासोच्छ्वास जैसी सूक्ष्म क्रिया ही शेष रहती है और उस स्थिति मे से पीछे नही हटते, इस कारण उसे 'सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाती' कहते है।

(४) समुच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाती—

जब देह की साँस-प्रसांस आदि सूक्ष्म क्रिया भी बन्द हो जाती है और आत्म-प्रदेश सर्वथा निष्प्रकम्प हो जाते है, तब सूक्ष्म देह योग रूप क्रिया के सर्वथा निवृत्त हो जाने से तथा उक्त स्थिति पुन: जाती नही है; अत: उसे समुच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाती कहते है।

इस ध्यान के प्रभाव से समस्त कर्म क्षय हो जाने के कारण आत्मा अपने शुद्ध सहजानदमय स्वरूप को प्राप्त करती है।

शुक्ल ध्यान के इन चार प्रकारो मे से प्रथम दो प्रकार छद्मस्थ आत्मा को और अन्तिम दो प्रकार केवली भगवतो को होते है; तथा प्रथम तीन प्रकार सयोगी को और अन्तिम प्रकार अयोगी को होता है।

इन चारों प्रकार के ध्यान का काल अतर्मुहूर्त (४८ मिनट के भीतर का) होता है। छद्मस्थ जीवो का ध्यान योग-निरोध स्वरूप होता है; अर्थात् केवली अवस्था मे योग-निरोध को ही ध्यान माना जाता है।

शुक्ल ध्यान के ये चारो प्रकार परम समाधि स्वरूप है।

जैन-दर्शन मे सामान्यतया ध्यान और समाधि की एकता बताई गई है।

जब ध्याता ध्यान के द्वारा ध्येयाकार को धारण करता है, तब वह ध्यान समाधि कहलाता है। इस अपेक्षा से पूर्व निर्दिष्ट रूपातीत ध्यान भी आत्म स्वभाव मे तन्मयता स्वरूप होने से वह भी समाधि रूप है और शुक्ल ध्यान परम समाधि रूप है।

शुक्ल ध्यान के प्रथम दो प्रकारो मे क्षायोपशमिक भाव की समाधि होती है और अन्तिम दो प्रकारो मे क्षायिक भाव की समाधि होती है।

बारहवां प्रकाश:—

योगशास्त्र के इस अन्तिम प्रकाश मे ग्रन्थकार श्री हेमचन्द्र-सूरिजी महाराज ने योग साधना के मार्ग मे स्वय को हुए निर्मल तत्त्व के अनुभव का वर्णन किया है। आइये, उनके इस स्वानुभवामृत का हम पान करे—

निर्मल आत्म-तत्त्व का अनुभव पूर्व वर्णित ध्यानो के दीर्घ अभ्यास का फल है। ध्यान साधना के क्रमिक विकास से जब मन निर्विकल्प बनता है, तब 'लय' अवस्था का प्रारम्भ होता है और जब इस 'लय' अवस्था का अभ्यास दृढ़ हो जाता है, तब आत्मा का अनुभव होता है।

लय प्राप्ति का उपाय—

प्राथमिक कक्षा के अभ्यासी का चित्त प्रारम्भ मे 'विक्षिप्त' अर्थात् चचल होता है। फिर क्रमश: 'यातायात' अवस्था मे तनिक स्थिरता आने पर चित्त कुछ आनन्दमय हो जाता है। तत्पश्चात् दीर्घकालीन अभ्यास से चित्त की 'श्लिष्ट' अवस्था आती है, तब स्थायी आनन्द की अनुभूति होती है और फिर चित्त अपने ध्येय मे 'सुलीन' होता है तब निश्चलता एव परमानन्द का अनुभव होता है।

इस प्रकार ध्यान साधना के अभ्यासी साधक को निरालम्बन ध्यान की योग्यता प्राप्त होती है।

आत्मानुभव का मार्ग :—

आत्मा की अनुभूति परमात्मा और सद्गुरु की समर्पण भाव-युक्त अनन्य उपासना का प्रकृष्ट फल है।

परमात्मा और सद्गुरु के अनुग्रह से ही साधक ध्यान एव समाधि को सिद्ध करके (आत्मा मे निहित) परमानन्द का अनुभव कर सकता है।

सिद्ध रस के स्पर्श से लोहा स्वर्ण बन जाता है, उसी प्रकार से परमात्म-ध्यान के प्रभाव से आत्मा परमात्मता प्राप्त कर लेती है, परमात्मा बन जाती है।

कोई भी साधक परमात्मा के आलम्बन से ही वहिरात्म भाव का त्याग करके, अन्तरात्म भाव मे स्थिर होकर अन्त मे परमात्मा मे तन्मयता सिद्ध करता है।

परमात्मा एव गुरु की भक्ति, सेवा किये बिना किसी ने भी आत्मानुभव, आत्म-ज्ञान प्राप्त नही किया। अत· प्राणायाम आदि क्लेशकारी क्रियाओ को गौण मानकर साधक को सुदेव और सुगुरु की भक्ति मे एकाकारता सिद्ध करनी चाहिये। यह आत्मानुभव का एक श्रेष्ठ मार्ग है।

लय योग का अभ्यास:—

(१) एकान्त, शान्त, पवित्र, रमणीय प्रदेश मे सुखासन पर बैठकर, समस्त अगो को शिथिल करके, मन-वाणी तथा काया का क्षोभ दूर करके आत्मा को निश्चल करनी चाहिये।

(२) चित्त के समस्त सकल्प-विकल्पो का परित्याग करके उदासीनता का भाव धारण करना चाहिये, क्योकि जब तक देह से कोई प्रवृत्ति अथवा मन से किसी सकल्प की कल्पना होती हो, तब तक 'लय' की प्राप्ति नही होती।

(३) अतः बाह्य एव अन्तर मे चिन्ता एव चेष्टा से रहित होकर परमात्म-ध्यान मे तन्मय होना चाहिये, ताकि क्रमशः उन्मनी भाव को प्राप्त किया जा सके।

(४) जिस स्थान पर, जिस समय, जिस प्रकार से, जिससे चित्त स्थिर हो, उस समय चित्त को वहाँ से हटाये नही, चलित न करे।

इस प्रकार नित्य, नियमित रूप से ध्यानाभ्यास एव उन्मनी भाव का अभ्यास होने से अत्यन्त चचल चित्त अत्यन्त स्थिर हो जाता है और आत्म-ध्यान मे तल्लीनता आती है।

विकल्प-विचार मन का खाद्य है, भोजन है। विकल्प रहित मन की अवस्था को 'उन्मनी अवस्था' कहते है।

यह अवस्था यदि विवेकपूर्ण अभ्यास द्वारा प्राप्त की जाये तो उसे 'उन्मनीकरण' कहते है और बिना प्रयत्न के सहजभाव से जिस साधक को यह उन्मनी अवस्था प्राप्त हो, उसे 'उन्मनी भवन' कहते है।

मन की इस अवस्था को 'अमनस्क दशा' भी कहते है। इस दशा मे निष्कल आत्म-तत्त्व का अनुभव होता है।

आत्मानुभव के चिह्न

आत्म-ज्ञान प्राप्त साधक का शरीर स्वेदन और मर्दन के बिना भी कोमलता धारण करता है, तेल के बिना भी स्निग्धता प्राप्त करता है। शरीर अत्यन्त हलका हो जाता है और देह मे आत्म-भ्रान्ति स्वरूप अविद्या का नाश होता है।

उन्मनी भाव के उदय-काल मे योगी को अपना शरीर अलग पडा हुआ हो, जल गया हो, उड गया हो अथवा है ही नही, ऐसी दृढ प्रतीति होती है और प्राणायाम आदि के क्रमिक अभ्यास के बिना भी

अमनस्क दशा मे प्राणवायु अत्यन्त स्थिर हो जाती है। वायु स्थिर हो जाने से श्वासोच्छ्वास का सचार भी प्रतीत नही होता। इस प्रकार श्वासोच्छ्वास का भी निरोध हो जाने से शरीर अचेतन सा होने का आभास होता है।

परमानन्द का प्रभाव

'लय' अवस्था प्राप्त योगी जागृत अथवा सुषुप्त दशा मे नही होता। सुषुप्त अवस्था मे शून्य भाव होता है। जागृत अवस्था मे विषय का ग्रहण होता है, परन्तु लय अवस्था मे इन दोनो का अभाव होने से वहाँ आत्मा के परमानन्द का अनुभव होता है। इस परमानन्द की अनुभूति वाले तत्त्व-जीवी मे मोक्ष की कामना का भी शमन हो हो जाता है। अत ससार के किसी भी सुख का लेश मात्र आकर्षण न रहना स्वाभाविक है।

इस प्रकार उन्मनी भाव की प्राप्ति सद्गुरु की उपासना एव आशीर्वाद से होती है। अत मुमुक्षु साधक को सद्गुरु की उपासना मे तत्पर होकर तत्त्व का अभ्यास करना चाहिये।

पूज्य श्री हेमचन्द्रसूरिजी महाराज ने भी स्वरचित 'योगशास्त्र' मे पातजल योगदर्शन मे निर्दिष्ट योग के आठ अगो के क्रम से साधु एव श्रावक जीवन, धर्मचर्या एव आचार सहिता का जैन शैली के अनुसार वर्णन करके जैन-शासन मे योग-साधना का मार्ग कितना सुगम, विशद एव व्यापक है उसका पूर्ण रूपेण प्रतिपादन किया है।

जैन-आगम-ग्रन्थों मे सामायिक, योग और ध्यान

योग-बिन्दु, योग-शास्त्र आदि ग्रन्थो मे निर्दिष्ट ध्यान एव योग-विषयक भेद, प्रभेद एव परिभाषा समस्त उक्त दोनो प्रकार की सामायिक का ही विस्तार है।

जैन शासन के मौलिक ग्रन्थो मे जिन्हे 'आगम' कहा जाता है, उन आचाराग, सूत्रकृताग, उत्तराध्ययन आदि मे जो साधुचर्या एव

श्रावक-चर्या का विस्तृत वर्णन है, उनमे पाँच यम, तप, स्वाध्याय तथा प्रणिधान स्वरूप नियम, इन्द्रिय-विजय, कपाय-विजय स्वरूप प्रत्याहार, कायोत्सर्ग आदि आसन, बाह्य प्रवृत्तियो के रेचन स्वरूप भाव-प्राणायाम, स्थिर अध्यवसाय स्वरूप ध्यान और आत्म-तत्त्व मे लीनता—तन्मयता स्वरूप समाधि जो योग के प्रधान अग है, उन्हे साधु-जीवन के प्राण स्वरूप माना गया है।

जैन आगम-ग्रन्थो मे 'ध्यान' शब्द योग के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ देखने को मिलता है।

'योग' शब्द के सम्बन्ध मे स्पष्टीकरण

'योग' शब्द के सम्बन्ध मे स्पष्टीकरण करना यहाँ इसलिये उचित प्रतीत होता है कि जैन आगम ग्रन्थो मे 'योग' शब्द केवल मन, वचन और काया के व्यापार के अर्थ मे ही प्रयुक्त हुआ है। चित्त-निरोध-स्वरूप ध्यान अथवा आत्म-समाधि स्वरूप साधना के सन्दर्भ मे इसका कही भी प्रयोग नही हुआ। महर्षि पतजलि के योगसूत्र की रचना के पश्चात् पूज्य आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी ने उक्त 'योग' शब्द अपनाया और उसे विकसित किया—यह बात जो कही जा रही है वह भ्रामक है।

जैन दर्शन के आगम, निर्युक्ति आदि प्राचीन साहित्य मे 'योग' शब्द ध्यान एव आत्म-समाधि के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है जो निम्न-लिखित शास्त्र-पाठो से स्पष्ट सिद्ध होता है।

जैन आगम ग्रन्थो मे 'आवश्यक सूत्र' की गणना मूल आगम के रूप मे है, जिसके रचयिता गणधर भगवत है। उस आवश्यक सूत्र मे 'प्रतिक्रमण सूत्र' के अन्तर्गत 'श्रमण-सूत्र' है, जिसका प्रयोग साधु-साध्वीजी महाराज प्रतिदिन प्रात -साय की 'प्रतिक्रमण' की क्रिया मे करते है। उक्त सूत्र मे "बत्तीसाए जोग सगहेहि" (इन ३२ प्रकार के योग सग्रहो मे) 'झाण सवर जोगो य' नामक २८वाँ योग-सग्रह है, जो ध्यान तथा समाधि रूप योग-प्रक्रिया का सूचक है।

उक्त सूत्र पर निर्युक्ति के रचयिता पूज्य आचार्यवर्य श्री भद्रबाहु स्वामी महर्षि पतजलि से पूर्व हो चुके है। अतः स्पष्टतया सिद्ध होता है कि जैन आगम साहित्य मे 'योग' शब्द साधना के सन्दर्भ मे भी प्रयुक्त हुआ है।

इसी 'आवश्यक सूत्र' की निर्युक्ति मे स्वय श्री भद्रबाहु स्वामी ने भी ध्यान एव समाधि के अर्थ मे 'योग' शब्द का अनेक स्थानो पर प्रयोग किया है। उनमे से कुछ उदाहरण निम्नलिखित है —

सुयनाणंमि वि जीवो, वट्टंतो सो न पाउण इ मोक्खं ।
जो तव संयम मइए, जोए न चएइ वोढं जे ॥

निव्वाण साहए जोगे जम्हा साहेती साहुणो ।
सम्माय सव्व भूएसु, तम्हा ते भाव साहुणो ॥ १०१० ॥

इनके अतिरिक्त बृहत् कल्पसूत्र, आऊर पच्चक्खाण आदि सूत्रों मे भी 'योग' शब्द साधना के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है।

ध्यान के लक्षण, भेद, प्रभेद, आलम्बन, अधिकारी आदि का विस्तृत वर्णन आगम ग्रन्थो मे है; तथा निर्युक्ति, भाष्य, वृत्ति आदि मे एव 'तत्त्वार्थ सूत्र' और 'ध्यान-शतक' आदि मे भी आगमोक्त ध्यान के सम्बन्ध मे विशेष स्पष्टीकरण है।

'ध्यान-विचार'—

आगम-शैली का यह एक अनुपम प्रकरण-ग्रन्थ है। इस लघु-ग्रन्थ मे गागर मे सागर की तरह ध्यान-विषयक सम्पूर्ण सामग्री है।

उक्त ग्रन्थ की रचना-शैली देखते हुए यह ग्रन्थ वर्तमानकाल मे अलभ्य किसी आगमिक ग्रन्थ के आधार पर रचा गया होने का अनुमान है, यद्यपि ग्रन्थकर्त्ता का नाम आज तक प्रकाशित नही हुआ।

उसमे २४ प्रकार के ध्यान, ९६ प्रकार के योग और ९६ प्रकार के करण आदि का अद्भुत एव अपूर्व वर्णन है। उसमे से केवल ध्यान तथा परम ध्यान इन दो ध्यान—प्रकारो का वर्णन वर्तमान आगम आदि साहित्य मे है। शेप कला, परम कला आदि ध्यान तथा ९६

प्रकार के योग और करण आदि का स्पष्ट उल्लेख कही भी दृष्टिगोचर नही हुआ।

छद्मस्थ जीवन मे सम्भवित समस्त प्रकार के ध्यान-भेदो तथा ध्यान-साधनाओ का अन्तर्भाव इस 'ध्यान-विचार' मे निर्दिष्ट ध्यान-प्रकारो मे हुआ है। इस ग्रन्थ पर अत्यन्त गम्भीर विवेचन लिखा गया है जो 'जैन साहित्य-विकास मण्डल, बम्बई' द्वारा प्रकाशित होने वाला है।

इस 'ध्यान विचार' ग्रन्थ मे मुख्य आठ प्रकार के योगो का वर्णन है। उसके आधार स्वरूप दिये गये 'जोगो किरियं थामो' गाथा मे प्रयुक्त 'योग' शब्द समाधि का ही द्योतक है।

साधना की मुख्य सामग्री

चित्त की निर्मलता, स्थिरता एव तन्मयता साधना की मुख्य अन्तरग सामग्री है। आत्म-ज्ञान, आत्म-साक्षात्कार के महान् उद्देश्य को सिद्ध करने के लिये योग-साधना आवश्यक है, जिसके लिये चित्त की एकाग्रता अत्यन्त आवश्यक है। चित्त की एकाग्रता के लिये चित्त की निर्मलता भी अत्यन्त आवश्यक है।

यम-नियम आदि के पालन द्वारा अथवा भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग की उपासना के द्वारा साधक के मन, वाणी और काया तीनो के पवित्र होने से चित्त की वास्तविक एकाग्रता प्राप्त होती है। उक्त एकाग्रता सिद्ध होने से साधक ध्येय—परमात्मा मे तन्मय हो सकता है। तात्पर्य यह है कि भीतर की शुद्धि के बिना सच्ची एकाग्रता नही आती।

जिन-शासन मे अहिंसा, सयम और तप रूप धर्म को मगलमय कहा गया है। यह प्रतिपादन इतना ठोस है कि उसका उसी प्रकार से प्रतिपालन किया जाये तो नित्य मगल होता है।

अहिसा धर्म के पालन से चित्त निर्मल होता है।

संयम धर्म के पालन से चित्त स्थिर होता है।

तप धर्म के पालन से चित्त तन्मय होता है।

सामायिक : एक पूर्ण योग

सामायिक अहिंसा, सयम एव तप स्वरूप है; ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र स्वरूप है। सामायिक की आराधना मे धर्म एव योग के समस्त अगो की साधना का समावेश है।

सामायिक तीर्थंकर परमात्मा का विश्व को एक महान् उपहार है, जो समग्र विश्व को सुख, शान्ति, अभय एव आनन्द से पुरस्कृत करता है और जो जोव को शिव के रूप मे और आत्मा को परमात्म-स्वरूप मे परिवर्तित करने की अद्भुत क्षमता रखता है।

जीव मात्र को अपनी आत्मा के समान मानकर उसके साथ आत्म-तुल्य वृत्ति एव व्यवहार लाना तथा उसमे उत्तरोत्तर विकास करना अर्थात् प्रेम के क्षेत्र की सीमा का विकास करना, जो प्रेम परिवार-परिजनो मे सीमित है, उसका समस्त प्राणियो मे विस्तार करना, उसे निरवधि एव विश्व-व्यापी बनाना सामायिक की साधना है।

जीवन में इस प्रकार की सामायिक व्याप्त होते ही पवित्रता एव प्रसन्नता का प्रसार होने लगता है, शान्ति एव समता का अनुभव होने लगता है।

सर्वज्ञ तीर्थंकर परमात्मा द्वारा उपदिष्ट सर्व कल्याणकारी परम सामायिक धर्म का विशद स्वरूप, उसकी अपार महिमा तथा उसके भेद-प्रभेदो का सक्षिप्त विचार, अनेक योग-ग्रन्थो के समन्वय सहित किया गया है, जो पाठक गण को स्पष्ट प्रतीति कराता है कि सामायिक स्वय एक पूर्ण योग है जिसमे समस्त प्रकार की योग साधनाओ का समावेश है।

विशेष ज्ञान प्राप्त करने के लिये जैन-दर्शन के आवश्यक-सूत्र, निर्युक्ति आदि आगम ग्रन्थो का; योग-बिन्दु, योग-शतक, योग-

विंशिका, योग-दृष्टि-समुच्चय, योग-शास्त्र, ज्ञानार्णव, ध्यान-शतक, ध्यान-विचार, अध्यात्म-सार, ज्ञानसार, योगसार आदि ग्रन्थो का गहन अध्ययन करना चाहिये; इस विषय मे निपुण अनुभवी गुरु महाराज के सम्पर्क मे आकर इसका रहस्य समझना चाहिये और उसे यथाशक्ति आत्मसात् करना चाहिये।

समस्त मुमुक्षु आत्मा परम सामायिक योग की सर्व श्रेयस्कर उपासना मे उद्यमशील होकर निर्मल आत्म-तत्त्व की प्रतीति एव अनुभूति करने के लिये सौभाग्यशाली हो—यही मगल कामना........

"शिवमस्तु सर्व जगत:"

